सहजानंद शास्त्रमाला

परमात्म-आरती प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

परमात्म-आरती प्रवचन

रचयिता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ गुरुवर्य्य पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक—

खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण ११००   सन् २०००   [लागत १२.५० रु०

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ।।टेक।। ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ।।१।। ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ।।२।। ॐ

परसम्बंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परम ब्रह्मका दर्शन, चहुंगति दुखहारी ।।३।। ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ।।४।। ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, पर बल बल धारी ।।५।। ॐ

परमात्म-आरती प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

※ ॐ जय जय अविकारी ※

१—**अन्तस्तत्त्वके बोधका प्रभाव**—जिस भव्य जीवने संसारका यथार्थ स्वरूप जाना, वस्तुओंका यथार्थ रहस्य समझा वह सहज ही परको पर जानकर, परभावको अपनेसे विविक्त जानकर उससे उपेक्षा करता है, और इस ज्ञानीकी दृष्टिमें केवल एक सहज ज्ञानस्वभाव रहता है, क्योंकि किसी भी पर-वस्तुके प्रति रागका सम्पर्क अब नहीं है । यथार्थ बोध होनेपर फिर भ्रममें समझे गए तत्त्वसे प्रीति नहीं होती । जैसे पड़ी थी रस्सी और कोई समझ गया सांप तो जब तक सांपका भ्रम रहता है तब तक इसके भय, आकुलता रहती है । हिम्मत करके थोड़ा जाकर देखा और निकट जाकर उसे पकड़कर हिला भी दे तो चूंकि दृढ़तासे उसे यथार्थ बोध हो गया, सो जो भ्रम बन गया था पहिले और भ्रममें जो भय आकुलता हो गई थी अब वह भय और आकुलता उसके नहीं रह सकती । इसी प्रकार

जिसने आत्माके स्वरूपको नहीं जाना, देहादिके रूपमें अपनेको समझा उसके आकुलता ही तो बढ़ेगी। जिसे अपने आत्माके सहजस्वरूपका बोध नहीं है वही जीव परसे लगाव रखता है, वैभवसे लगाव रखता है। सो अज्ञानियोंका काम है, और यश कीर्ति नामवरीसे लगाव रखे सो अज्ञानियोंका काम है, लेकिन ज्ञानी पुरुष जिसने अन्तस्तत्त्व समझा है, जिसने अमृत तत्त्वका पान किया है वह पुरुष सहज ही पर और परभावसे विरक्त हो जाता है और सत्य सहज आनन्दका अनुभव करता है। वे ५ अमृत तत्त्व क्या हैं जिनका पान करनेसे जीव अमर हो जायगा ? सो सुनिये।

२—पञ्च अमृत तत्त्वोंमें लोकपरिज्ञान व कालपरिज्ञान नामक दो तत्त्वोंका संक्षिप्त वर्णन—जिनके ज्ञान होनेसे जीव का हित होता वे ५ अमृत तत्त्व ये हैं—(१) लोक परिज्ञान, (२) काल परिज्ञान, (३) जीवदशा परिज्ञान, (४) मुक्तस्वरूप परिज्ञान, (५) आत्मस्वरूप परिज्ञान। जब यह जान गये कि यह सारा लोक अनगिनते असंख्याते योजनों प्रमाण है। जितनी जगहमें हम आपका परिचय बना है वह तो समुद्रके एक बूँद बराबर है। सारा लोक, ऊर्द्धलोक, मध्यलोक, अधोलोक ३४३ घनराजू प्रमाण है और एक राजूका इतना विस्तार है कि जिसमें असंख्याते द्वीप समुद्र समा गए, फिर भी पूरा राजू नहीं बना। और यह जो समुद्र इस परिमाणके सबसे मध्य

रहने वाला जम्बूद्वीप एक लाख योजनको सूचीका है। दो हजार कोशका योजन ऐसा-ऐसा एक लाख योजनकी सूचीका यह जम्बूद्वीप है। उससे दुगुना एक तरफ समुद्र, उससे दुगुना एक तरफ द्वीप, दुगने-दुगने समुद्र द्वीप चलते जाते हैं, अनगिनते द्वीपसमुद्र हैं। ये सब जितनेमें समाये हैं वह एक राजूसे भी कुछ कम है, और यह जो एक राजूसे कम वाला प्रमाण है वह तो प्रतर रूपमें है याने जिसमें मोटाई नहीं, केवल कागज की तरह फैला हुआ यह परिमाण है। फिर एक राजू मोटा एक राजू चौड़ा भी हो वह १ घनराजू कहलाता है, ऐसा ३४३ घनराजू लोक है तो इतने बड़े लोकमें यह जीव क्या अभिमान करता है कि मुझको लोग समझते हैं, मेरा इतना यश है, परिचय है। यह तो इतना बड़ा परिचित क्षेत्र भी लोकसमुद्रमें एक बिन्दु बराबर जगह है। अगर यहाँ कुछ यश कीर्ति फैल गई तो उससे इस आत्माका क्या हित है, क्या सम्बंध है, क्या मिल जाता है ? जिसने लोकके विस्तारका परिचय किया है और जिसकी दृष्टिमें लोकका विस्तारका ध्यान रहता है उसको संसारसे प्रीति नहीं रहती। जिसने कालका परिचय किया है, काल है अनादि अनन्त, न उसकी आदि है, न अन्त है तो उस समयके बीच अगर ५०-६०-७० वर्षका कोई जीवन मिला तो क्या जीवन मिला ? यह तो बिन्दु बराबर भी नहीं है। थोड़ेसे समयके लिए पर्यायपर दृष्टि रखना, यश

कीर्तिकी कामना रखना, यह तो अज्ञानियोंका काम है। जितने कालका परिचय किया है वह इस थोड़ेसे मानवजीवनमें कुछ दुर्भावना नहीं कर सकता। यश कीर्ति सम्पादनकी बात चित्त में न रखनी चाहिए। इस मानव-जीवनमें सबसे बड़ा कष्ट है मोहियोंको तो अपनी यश कीर्ति नामवरीका कष्ट है। अब आप सोचेंगे कि देखो भूख, प्यास, रोग ये कोई कष्ट न रहे और सबसे बड़ा कष्ट सह रहे हैं यशकी चाहका। हाँ, है व्यर्थका कष्ट यशकी चाहका। देखो भूख लगी तो खा लेवे, संतोष हो गया, थोड़ा शरीर भी टिक गया, स्वास्थ्य भी बन गया, पर इस यशकी प्रशंसामें या नामवरीमें कौनसी बात बनी कि जो उपयोगमें आये? लेकिन जहाँ अज्ञान छाया है वहाँ यश चाह की तीव्र ज्वाला चित्तमें लगी रहती है। कालका जिसके परि-चय है और कालके विस्तारकी बात जिसकी नजरमें घूमती रहती है वह पुरुष सहज ही संसारके पदार्थोंसे विरक्त रहता है।

३—पञ्च अमृत तत्त्वोंमें जीवदशापरिज्ञान नामक तृतीय अमृततत्त्वका संक्षिप्त परिचय—तीसरा अमृततत्त्व है जीवदशा परिज्ञान। जीवको दशा देखो, कैसे-कैसे तिर्यञ्च पशु-पक्षी, कीड़े-मकौड़े ये क्या हम न थे? ये जीव ही तो होते हैं। हम मनुष्य न होते और किसी भवमें होते तो फिर यहाँका क्या था? कुछ भी न था। और ऐसे इन तुच्छ प्राणियोंका जो

व्यवहार है, परिणमन है उससे तो आज हम बहुत भले हैं। यह तो ठीक है। अगर यह दशा मिली होती तो क्या था यहाँके लिए? तो जिनको जीवदशाका परिचय है उन्हें गर्व नहीं रहता। मनुष्योंको सबसे प्रबल कष्ट है तो मान कषायका कष्ट है। जिन्होंने जीवदशाओंका परिज्ञान किया है उनको यह मानसिक कष्ट नहीं रहता। देखते हैं कि अनेक खुजेले कुत्ते फिर रहे, सूकर फिर रहे, जिनके मुख, कान आदिक विष्टासे भिड़े, क्या उनका भोजन है? और-और भी कीड़ा पतिंगोंका हाल देख लो, अगर मैं ये होता तो ये मनुष्यभवकी क्या बातें होती वहाँ? धर्मपालनकी उमंगके प्रसंगमें थोड़ी देरको यह ही समझ लो कि हम यदि ऐसी खोटी पर्यायोंमें होते तो हमारा यहाँका कुछ न था। और आ गए आज मनुष्यभवमें तो यहाँ तृष्णा न करें, लोभ न करें। तृष्णा करें तो इस ही धर्मसाधना की करें। यहाँ ही रुचि लगावें।

४—पञ्च अमृततत्त्वोंमें मुक्तस्वरूपपरिज्ञान व आत्मस्व-रूपपरिज्ञान नामक चतुर्थ पञ्चम अमृततत्त्वका निर्देशन—चौथा अमृत तत्त्व है मुक्तिस्वरूपका परिचय। जो कर्मसे, देहसे छूट गया है ऐसे आत्माका कैसा परिणमन है, क्या आनन्द है, कैसा कल्याण है? यह बात चित्तमें आ गई, तो उसे इन व्यर्थकी चीजोंसे लगाव नहीं रहता। कैसी घटना है इस जीवके जागतेमें? जैसे सोते हुएमें घटना होती है। सोते हुएमें राज्य-

पद पाया, लोग सेवामें आ रहे हैं, चरणोंमें झुक रहे हैं, वह सोने वाला पुरुष बड़ा आनन्द लूट रहा है, और जब जग जाता है तब कुछ भी नहीं। तो जैसे सोयेमें मिला वह मिला क्या ? वह तो कल्पनासे सम्बंध बनाया, तो ऐसे ही आज जिन चीजोंका समागम है उसके बारेमें सोच समझ नहीं बन पाती तो अनेक गुजरी बातोंका ख्याल देखो। कैसी-कैसी उमंग में समय गंवाया मोहमें, प्रेममें, और वे सब कुछ न रहे। तो आज लग रहा ना, ऐसा कि देखो स्वप्न जैसा काम हो गया। भेद न रहा, और कोई न रहा, जिसमें बड़ा प्रेम था उसका वियोग हो गया, तो वहाँ ऐसा लगता है कि एक स्वप्नसा हो गया, मिला कुछ नहीं। कल्पना ही थी, ख्याल ही किया। तो जैसे गई गुजरी बात स्वप्न जैसी लगती है ऐसे ही वर्तमान में रहने वाली बातको स्वप्न जैसा क्यों नहीं मानते ? क्या मिलता है यहां ? आत्मा तो अपने प्रदेशोंमें ही है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अपने गुणोंमें ही है। बाहरसे कुछ मतलब तो नहीं, और फिर भी उनका ख्याल करते, प्रसंग जोड़ते, तो वह सब केवल स्वप्नवत् कल्पना है, ये सब छूटेंगे, और मोह है जिसके सो जब ये समागम छूटेंगे तो वह बड़ा दुःखी होगा। तो यहाँ किसी समागममें कोई खैर नहीं, कुशल नहीं, भलाई नहीं। भले ही कोई समागमको बड़ा अच्छा मानकर खुश हो कि मेरा इतना धन जुड़ गया है, मेरे इतने

घर बन गए हैं, मेरा इतना चला चल रहा है, भले ही वह सोचे, मगर वह अंधेरेमें है, गरीब है। जिस बेचारेको अपनी आत्मनिधिका पता नहीं और बाहर इन पौद्गलिक मायामय ठाठोंमें हिसाब बनाये फिरता है, यहाँ सब झंझट ही झंझट है, विडम्बना विडम्बना है, यह सब जिसके नहीं रही, निस्तरंग उपयोग रहा, केवल ज्ञानस्वरूपका अनुभव चल रहा, ऐसे ही पुरुष इस सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनाके बलपर शरीरादिक सब झंझटोंसे छूट जाते हैं। उनको ही कहते हैं मुक्त जीव। जो सच्चाई है अन्दरमें वह सब जिनके पूर्ण प्रकट हो गई उनका नाम है भगवान। तो मुक्त आत्मा का जो स्वरूप सोचते हैं वे अपनेको अमर अनुभव करते हैं। जो वह हैं सो मैं हूं। मेरा स्वरूप, परमात्माका स्वरूप बस वह एक समान है। मैं दुःखमें क्यों रुल रहा हूं, मैं तो वह हो सकता हूं, और ऐसी प्रभुता पानेकी उमंग होती है। तो मुक्त आत्माका परिज्ञान होनेसे यह जीव अपनेको उन्होंकी तरह अविकार और कृतार्थ अनुभव करता है। ५वाँ अमृततत्त्व है आत्मस्वरूप परिज्ञान। आत्माका स्वभाव जानें, आस्था करें, उसी की बाह्यमें उमंग रखें, जो अपने आत्माके स्वरूपको समझता है, उसमें उपयोग देता है वह पुरुष धन्य है, कृतार्थ है।

सहजसिद्ध अन्तःप्रकाशमान सहजपरमात्मतत्त्वका जयवाद—जिन भव्य जीवोंने अपने आत्माके ज्ञानस्वरूपका अनुभव

किया है, वहाँ जो अलौकिक आनन्द पाया है सो अब उसकी स्मृतिमें उसके प्रति कह रहे हैं कि जयवन्त होवो, अर्थात् हमारा ज्ञानस्वभावके प्रति अभिमुख रहने वाला यह उपयोग ज्ञानस्वरूप स्वच्छ सदा काल प्रकट रहा करे, उस ही तत्त्वको इस ज्ञानीने निरखा तो स्वीकार किया—ॐ ॐ ॐ। हाँ यह ही हूं मैं, ऐसा जब इस आनन्दनिधिको देखें तो भीतरसे एक आशीर्वाद उठा कि जयवंत हो, जयवन्त हो। जिससे हम लगे हैं उसके उत्थानमें इसको क्या उमंग न होगी ? जिससे हम लगे हैं याने अपने स्वरूपसे, ज्ञानस्वभावसे, तो उसमें जिसने चित्त दिया, अनुभव किया और अपनेको पाला-पोषा याने उपयोग निर्मल बना तो वह इस ज्ञानस्वभावके प्रति सहसा कह ही उठता है—जयवन्त हो, जयवन्त हो। यह आत्मस्वभाव अविकार है, विकाररहित है। स्वरूपमें विकार है नहीं। जैसे दर्पणके स्वरूपमें प्रतिबिम्ब है ही नहीं। दर्पणमें निजमें क्या है ? केवल दर्पणकी स्वच्छता। अब दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया है सो परपदार्थ मानते हैं सो यह दर्पण उसका सन्निधान पाकर प्रतिबिम्बित हो गया है। कैसे हो गया है ? कोई शब्द नहीं है जो उसकी विधिको ठीक-ठीक बता सके और ज्ञानमें सब आ रहा, चीज तो १० हाथ दूर है। उस वस्तुसे कोई किरण निकलकर दर्पणमें आयी नहीं, कोई रंग निकलकर दर्पणमें आया नहीं, फिर यह दर्पण प्रतिबिम्बित कैसे हो

गया ? और देखो सभी लोग जानते हैं कि कोई सामने चीज आये तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब हो, यह ही बात आत्माके विषयमें परखो, बाँधे हुए कर्म उदयमें आये। उदयमें आनेका अर्थ है विपाक अनुभाग। तो जिस समय कर्ममें कर्मत्वका विपाक है, क्रोध प्रकृतिमें क्रोध जैसी परिणति बनती है, अचेतन है, सो जानना नहीं बन पाता, पर उस क्रोधके अनुभागकी छाया उपयोगमें आती है और यह जीव विडम्बना करने लगता है। सम्यग्ज्ञान जब नहीं होता तो ऐसी ही दशा होती। सारी भूल भूल भी क्या, चूक भी क्या, विपरिणमन तो कर्ममें है और यह ही बेचारा ज्ञानस्वरूप आत्मा, यह उपयोग व्यर्थ ही दुःख भोग रहा। दुःख कर्म नहीं भोगता। तो इस तरह ये विकार नैमित्तिक होते हैं, पर मेरा जो सहज स्वरूप है वह विकार वाला नहीं है। उसमें विकारका स्वभाव नहीं है। मैं इन सब विकारोंसे विविक्त केवल प्रतिभासमात्र हूं। अहा, अविकार सहज परमात्मतत्त्व ! जयवंत होओ, जयवंत होओ।

६—सहजपरमात्मतत्त्वकी उपासनाके पौरुषका अनुरोध— देखो सबकी चाह है कि हमें शान्ति मिले। सबके चित्तमें यह आकांक्षा है कि नहीं कि मेरेमें आकुलता जरा भी न हो। तो उसका ही उपाय कहा जा रहा है जो बहुत सीधा है, सरल है, सुगम है कि अपनेको ऐसा मान लें कि मैं ज्ञान ज्ञान हूं। ज्ञान सिवाय और कुछ मैं हूं ही नहीं। किसी भी अन्य वस्तुसे मेरा

रंच भी सम्बंध नहीं। बिगड़े, सुधरे, छिदे-भिदे, कैसी ही अवस्था प्राप्त हो, परपदार्थ है, उससे मेरा कुछ सम्बंध नहीं। ऐसा जो निर्णय बनाये हुए हो उसे आकुलता कहांसे आये ? जब आत्माका परिज्ञान नहीं है तो किसी भी कूड़ा-करकटसे अपना लगाव लगाया और दुःखी हुए, ऐसी मूर्खतापर कौन हँसे ? संसारमें तो मोही जीव ही प्रायः भरे हैं। वे क्यों हँसेंगे ? और जो सही बात जानते हैं उनके विकार नहीं। वे भी क्यों हँसेंगे ? प्रभु सबको जानते हैं, लेकिन वे हँसेंगे नहीं हमारी मूर्खतापर, ज्ञाताद्रष्टा ही रहते हैं। इसका यह भ्रममें होने वाला कार्य निपट मूर्खता जैसा ही है। जिसके ज्ञान जग गया वह क्यों इन विकारोंसे लगाव लगाये रहता है ? मैं ज्ञान-मात्र हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानसे ही मुझे काम पड़ता है। तो ऐसा जिसने अपने अन्तःप्रकाशमान ज्ञानब्रह्मको देखा, उसके आनंदका अनुभव किया तो यह जीव सर्व आकुलताओंसे दूर है। अपनेको निजको निज ही समझनेका तो उपाय करना है, और बाकी सबको पर समझकर उनसे अलग होना है। बात कुछ थोड़ी-थोड़ी समझमें आ रही है, अर्थ भी लग रहा, मगर प्रसंग कोई कठिन आया ऐसा कि छोड़ना पड़ रहा है संगको, सबको तो वहाँ ज्ञान सब भूल जाता है। बिना तपके, कष्टके, संयम नियमके, बिना जीवनको एक नियंत्रित करनेके यदि कभी कोई क्षण आत्माके स्वरूपकी चर्चा कर लेता है तो उससे इसकी

उन्नति नहीं है। प्रयोग करें, मुझे अपने आत्माके ज्ञानस्वरूप को उपयोगमें लेना है। तो ऐसा है यह अविकार आत्मस्वरूप, जिसको निरखकर ज्ञानी सहसा कह ही उठता है—जय हो, जय हो। मेरा शरण मेरे स्वरूपको छोड़कर कुछ भी नहीं है। व्यर्थका परसे लगाव, प्रेम, मोह लगाना और अपनेको दुःखी करना, संक्लेश सहना, भव बिगाड़ना और दूसरेका भी कुछ कर नहीं सकता। तो यह कितना एक मूर्खतापनेका भाव है ? इसे त्यागें और अपने अंतः सहजस्वरूपके दर्शन करें और उसका ही जयवाद हो, ऐसा पौरुष करें।

७—रत्नत्रयधर्मका जयवाद—ॐ—हे अविकार ॐ जयवंत हो, जयवन्त हो, यह कहा गया था अपने ही अन्तः-प्रकाशमान सहजसिद्ध, सहज तत्त्वको निरखकर। वह तो हुआ एक स्वभाव और उस स्वभावकी उपासनाका जो परिणाम है वह भी ॐ कहलाता है। जो अवलोकन है, उद्योत है, मौन है वह भी ॐ है। अ ऊ म इन तीन शब्दोंसे ॐ बना है। अवलोकनका अ, उद्योतका उ, मौनका म है। अ + उ में आद्गुणः सूत्रसे गुण एकादेश ओ हो गया, उसमें म मिलनेसे ॐ बन गया। तो यह जो रत्नत्रयरूप धर्म है वह भी अवि-कार है। यथार्थ अवलोकन सम्यग्दर्शन है, यथार्थ उद्योत सम्यग्ज्ञान है, यथार्थ मौन सम्यक्चारित्र है। सत्य श्रद्धाकी स्थितिमें कहाँ विकार है ? यह बताया भी गया कि जिसके

परमाणु मात्र भी राग हो वह आत्माको नहीं जानता। जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्माको नहीं जानता, जो आत्मा अनात्माको नहीं जानता वह जीव अजीवको नहीं जानता, जो नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे ? तो यहाँ इस कथनका तात्पर्य है कि श्रद्धामें परमाणुमात्र भी राग है तो वह ज्ञानी नहीं है। कर्मविपाकवश राग आ पड़े तो उससे तो ज्ञानका विनाश नहीं, सम्यक्त्वका विनाश नहीं, मगर श्रद्धामें अणुमात्र भी राग हो तो सम्यक्त्वका विनाश है। रागभावसे आत्माका अहित है। यह श्रद्धा पूर्णतया ज्ञानीके निर्णीत है। जैसे कोई कहे कि हमारा तो बस एक प्राणीमें मोह है और बाकीके अनन्तानन्त जीवोंसे मोह मिट गया। तो उसे कहेंगे क्या कि मोह मिट गया ? एकमें हो, चाहे कितनेमें ही हो और एकमें भी किसी एक बातमें भी हो, श्रद्धामें राग है, रागसे मेरा हित है, ऐसी श्रद्धामें बात हो तो वहाँ सम्यक्त्व नहीं है। तो श्रद्धा अविकार है, ज्ञान भी अविकार है। ज्ञान एक ज्योतिप्रकाश है। वहाँ रागद्वेष विकार नही होते, और मग्नता, स्वरूपमग्न हो गए, तो वहाँ विकार कहाँ ? ऐसे हे अविकार रत्नत्रयधर्म तुम जयवन्त हो अर्थात् मुझमें उत्तरोत्तर विकसित होकर प्रकर्षको प्राप्त होवो।

८—धर्मपालनके फलस्वरूप पञ्चपरमेष्ठीका जयवाद— धर्म, धर्मपालन और धर्मपालनके फल, इन तीनका जयवाद

है इस परमात्म-आरतीमें। धर्म तो है अनादि अनन्त, अंतःप्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूप। कोई उसे जाने तो धर्म नहीं मिटा, न जाने तो भी धर्म नहीं मिटा। अज्ञानी मोही दुःखी एकेन्द्रिय सभी जीवोंमें धर्म पाया जाता है। उस धर्मको जो जान ले सो धर्मात्मा और उस धर्मको जो न जान सके सो धर्ममय होते हुए भी दीन हीन संसारी। उस धर्मको जिसने जाना, माना और पालन किया वह है धर्मका पालनहार। वे सब जयवंत हों। और इस धर्मके पालनके फलमें बनते हैं साधु, आचार्य, उपाध्याय, अरहंत और सिद्ध पंचपरमेष्ठी, वे भी अविकार हैं। सो जयवन्त हों। सिद्ध भगवान और अरहंत भगवान तो पूर्णतया अविकार हैं और आचार्य, उपाध्याय और साधु अविकार होनेकी ही धुनमें रहते हैं और अविकारतामें ही प्रगति कर रहे हैं। उनकी उनके आंशिक शुद्धि बराबर है, और वही बढ़ते हैं इसलिए भी अविकार हैं। जो जिस गुणका इच्छुक है उसे वही दिखता है। साधु परमेष्ठी गुणविशिष्ट भी हैं और दोष भी उनमें चलते हैं। अगर दोष न हो तो उनका नाम साधु नहीं होता, प्रभु कहलाता और गुण न हों तो उनका नाम साधु नहीं होता, गलियारा मुसाफिर कहलाता। अगर जरा भी दोष नहीं है तो वह साधु नहीं है, वह तो फिर कहलायगा अरहंत सिद्ध भगवान। दोष है तो दोष की निवृत्तिके लिए ही तो पौरुष है जिनका, उन्हें कहते हैं साधु

और गुण नहीं है तो साधु नहीं है। तो साधुमें गुण भी हैं, दोष भी हैं, किन्तु जो रत्नत्रयका प्रेमी है, मुक्तिका आकांक्षी है उसे साधुमें गुण ही गुण नजर आयेंगे, दोषोंपर वह दृष्टि न देगा। एक तो उस पदमें दोष कम रहते हैं, गुणका विकास होता है, और जिसने यह जाना कि साधुता नाम है गुणके विकासका उसे साधुमें रहे-सहे दोषपर दृष्टि नहीं होती। जो दोषद्रष्टा पुरुष है, जिसको धर्मपालनसे प्रयोजन नहीं है, किन्तु बात ही बातके शूरवीर रहते हैं उनको तो दोष ही दोष दिखेंगे और वह अपना अहंकार बढ़ायेगा। यह भी तो एक बहुत बड़ी पात्रता है श्रावकोंकी कि जो साधुको निरखकर अपने मनमें नम्रता लाते हैं और उनकी सेवामें रहते, प्रणाम करते, तो मानकषाय तो उनके दूर हुई; यह भी उनके लिए भला है और जिनके मानकषायकी प्रबलता है वे गुणोंपर दृष्टि न देंगे, दोषोंपर दृष्टि रखेंगे। इसमें अमुक दोष अमुक दोष। और ऐसे दोषद्रष्टा पुरुषोंका बाहुल्य है संसारमें, क्योंकि संसारी जीव दोषप्रेमी होते हैं, गुणप्रेमी नहीं होते। विरले ही जीव जिनका होनहार भला है वे होंगे गुणप्रेमी, मगर दोषप्रेमी न रहे जीव तो यह संसार तो न चलेगा। इस संसारको तो इन दोषप्रेमियोंने ही चला रखा है। तो साधु भी अविकारी कहे जाते हैं, उनका जयवाद है। तुम जयवंत हो, तुम उत्कर्षको प्राप्त हो और तुम्हारी सेवामें रहने वाले हम भी उत्कर्षको

प्राप्त हों और जिन्होंने धर्मपालनका पूर्ण फल पाया वे हैं अरहंत। जिनके अनन्तज्ञान प्रकट हुआ, जिनके द्वारा समस्त लोकालोक सहज ही जाने जा रहे हैं, जिनके अनन्तदर्शन प्रकट हुआ, जिससे समस्त लोकालोकका जाननहार आत्माका दर्शन करते हैं, अनन्तआनन्द प्रकट हुआ है। जहाँ रंच भी आकुलता नहीं है और अनन्तशक्ति प्रकट हुई कि ऐसे अनन्तविशुद्ध पूर्ण विकासको बराबर झेले रहते हैं। उसमें कमी नहीं हो पाती। तो ऐसे अनन्त चतुष्टयसे शोभायमान अरहंत भगवान जयवंत हों, जयवंत हों। वास्तवमें भगवानको जयवादकी आवश्यकता नहीं है जो उन्हें आशीष दिया जाता है कि जयवन्त हो। उनके तो पूर्ण विकास हो गया, पर उस विकासमें उपयुक्त जो भक्त है वह भी विकासको निरखकर इतना प्रबल होता है कि वह जयवाद कर उठता है और उस जयवादका सम्बंध है, अपने उत्थानसे, अपनी विजयसे। तो यों अविकार हे अरहंत देव जयवन्त हो! उसका रहा-सहा भी ऊपरी मल, शरीरका मल याने शरीर और द्रव्यकर्म ये अपने आप ही सहज छूट जाते हैं, अष्टकर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं ऐसे सिद्ध भगवान अविकारी हैं। हे सिद्ध प्रभु जयवन्त होवो, जयवन्त होवो!

६—भगवानके जयवादमें अपने आपको आशीर्वाद—भगवानके जयवादमें अपने आपका आशीर्वाद गर्भित है। उसमें भावना यही है कि मेरा भी ऐसा ही आत्मविकास हो। तो

धर्मका जयवाद, धर्मपालनका जयवाद और धर्मपालनके फलका जयवाद—ये तीनों ही बातें जिनके उपयोगमें समा गई हैं एक विशुद्ध विकासके प्रसंगमें वह पुरुष निश्चयतः तो अपने आपमें ही विकासको देखकर जयवाद करता है और व्यवहारतः उसका जिस जिससे प्रसंग है, सम्बंध है, निमित्त है, ध्यान है उनका जयवाद करता है। जयवादके मायने हैं कि निर्विघ्न रूपसे अपने पूर्ण विकासमें निर्मलता मिले। तो इन सबको जो अपने उपयोगमें बसाता है, प्रयोग करता है, निरखता है वह पुरुष जानता है कि यह अविकार भाव क्षण-क्षण विकसित होकर, यह धर्म, यह चैतन्यस्वरूप विकसित होकर कभी यह पूर्ण विकसित हो जाता है और वही एक कल्याणका स्थान है। हम आप सबको इस संसारके संकटोंसे छुटकारा पानेकी इच्छा है तो ये सब धर्म सम्बंधी बातें अपने आपमें घटित करते हुए मनन करना चाहिए। धर्मके लिए इतना ही तो करना है कि परपदार्थोंमें लगाव न रखें, मोहबुद्धि न करें। तो यह कोई कठिन बात है क्या? जिस क्षण सोच लें, जिस क्षण अपना साहस बना लें कि मुझे किसी भी परपदार्थमें राग नहीं रखना है, उससे लगाव नहीं रखना है, उसका विकल्प नहीं करना है तो वह क्या कर नहीं सकता? अविकार स्वरूपके ध्यानके प्रसादसे अपनेको अविकार पा लेना ही सच्चा आशीर्वाद है।

१०—कर्मप्रतिफलनके लगावमें स्वाधीन निधिपर भी वशकी असंभवता—अहो कैसा पूर्वबद्ध कर्मविपाकका आक्रमण है कि अपने-आधीन बात भी अपनेसे की नहीं जाती। कुछ भी प्रतिकूल बात आये तो वहाँ ही क्रोध जग जाता, और न यह ख्याल रहेगा कि हम धर्मक्षेत्रमें बैठे हैं, धर्मसंगतिमें बैठे हैं। जैसे ही वह अपने प्रतिकूल बात सुनेगा तो उसका दिल भड़क उठेगा। क्यों भड़क उठेगा, क्योंकि अपने-अपने अन्तःप्रकाशमान चैतन्य धर्मको नहीं समझा और धर्म धर्म, धर्मपालनके समयके विकल्पमें, गुणपर्यायरूपमें ही अपनेको समझ रखा था। पर्यायरूपमें अपनेको समझने वाला ही क्रोध, मान, माया, लोभमें प्रगति कर पाता है। जो इन कषायोंसे विविक्त इन पर्यायोंमें आत्मत्वकी बुद्धिसे रहित अपने आपके स्वरूपमें, यह मैं हूं, ऐसा भान रखेगा उसे बाहरी पदार्थोंकी परिणति पर क्यों क्रोध जगेगा? वे बाहरी पदार्थ यहाँ रहें तो क्या, किसी दूसरी जगह जायें तो क्या? मुझे मतलब क्या है? जब मुझसे ये अत्यन्त दूर ही हैं, मेरे प्रदेशसे ये अत्यन्त जुदे ही हैं तो अब उनके लगावमें मेरेको क्या हित है? यह बुद्धि रहती है ज्ञानी जीवकी। अतएव वह किसी भी प्रतिकूल बात में क्रोधको प्रश्रय नहीं देता। मान भी जगता है तब जब कि पर्यायसे लगाव रखा जाता है। मैं ठीक हूं, बड़ा ही बुद्धिमान हूं और ये सब लोग तो उपासक हैं आदिक रूपसे जो अपने

आपमें मानभव जगता है उसका कारण है कि उसने चैतन्य-स्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसा अनुभव नहीं बना पाया और कषायों में ही, पर्यायमें ही, अपनी भावपरिणतिमें ही यह मैं हूं, ऐसी बुद्धि रख रहा है। मायाचार भी उनके ही प्रकट होता है जिनको पर्यायमें कोई अटक हो। जब किसी बातमें अटक हुई समझता है तब ही यह जीव छल करता है, सो क्या अटक है ? कहाँ अटक है ? पर्यायमें अटक है और लोभ तृष्णा भी ज्यादा बढ़ गई। तो जब तृष्णा चल रही है, बढ़ रही है तो बढ़नेके उमंगमें आकुलता भोगे, और किसी समय वैभव घट जाय, बरबाद हो जाय, चोरी हो जाय, नष्ट हो जाय तो वहाँ वियोगके विचार वाली आकुलता है। आकुलतासे रहित कौन है ? जो अपने सहजस्वभावमें यह मैं हूं, ऐसा निर्णय और अनुभव बनाये है बस वह तो जीव सुखी हो सकता है और जो सांसारिक मौज ही मानते हैं कि मैं सुखमें हूं, अच्छा हूं, उनको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

११—आत्महिताकांक्षीका प्रथम पुरुषार्थ—आत्महितके आकांक्षियोंको करणीय पहला पुरुषार्थ यह मैं हूं, ऐसा अनुभव न करना। संसारके संकटोंकी कोई सीमा नहीं होती। मगर पर्यायका लोभी प्रत्येक संकटको मानता है कि यह बेहद संकट है, उससे ज्यादा कोई संकट नहीं होता। घरमें कोई उल्टा-सीधा बोले तो लोग यों समझते हैं कि हम पर बड़ा संकट है।

अरे वह कुछ भी संकट नहीं है, मामूली संकट है। जो हम पर संकट आया वह तो बहुत थोड़ा संकट है। और हम तो ऐसे पाप वाले पुरुष हैं, जीव हैं कि इससे कई गुना संकट आना चाहिये था, किन्तु विवेक न रहनेसे जब कुछ भी विकल्प संकट आता है तब यह बड़ा दुःखी होता है। कर्तव्य तो यह है कि किसी भी संकटको ऐसा मानें कि यह तो कोई संकट ही नहीं जो बाहरकी परिणतिमें, बाहरी पदार्थोंमें हो रहा है। उसमें मुझपर संकटका क्या काम ? जो कुछ संकट महसूस हो तो यह ध्यान रखना चाहिए कि यह तो कुछ भी संकट नहीं। यह तो सैम्पल (नमूना) जैसा है। संकट तो इससे कई गुना संसारमें बसे हुए हैं। पर थोड़ा भी संकट जो पहाड़सा दिखता है उसका कारण है पर्यायसे प्रेम। अगर स्वरूपमें आत्मबुद्धि होती तो इन संकटोंको संकट ही नहीं गिनता। बाहरी पदार्थ हैं, दूसरे जीव हैं, जैसा उनका भाव है, जैसी उनकी दृष्टि है उनका उनमें ही काम होता है, उनसे मुझमें कुछ भी काम नहीं होता। संकट किसका नाम है ? जन्मे अकेले, मरेंगे अकेले, यहाँ भी हर बातमें अकेले, तो इसमें गजब क्या हुआ, संकट क्या हुआ ? पर पर्यायमें लगाव है तो इस पर्यायबुद्धिके साधनभूत पदार्थोंमें लगाव है और जब विषयसाधनोंमें लगाव है तो अनन्त संकट भी उसपर मंडराते हैं। सो संकटोंसे छुटकारा पानेकी भावना हो तो प्रथम पुरुषार्थ यह करें कि पर्याय

में आत्मबुद्धि न हो। जैसे कोई बच्चा अपने हाथमें खाने या खेलनेकी कोई सुन्दर चीज लिए हो और उसपर कई बच्चे उस चीजको छुड़ानेके लिए टूट पड़े हों तो वह बालक बड़ा दुःखी होता फिरता है। यदि वह बालक उस चीजको बाहर फेंक दे तो बस वह आक्रमणसे बरी हो जाता है। तो ऐसे ही हमपर जो दुःखोंका आक्रमण लद रहा है उसका कारण यह ही है कि हम अपनी पर्यायमें अहंबुद्धि बनाये हुए हैं। सबके अपने-अपने संकटके जुदे-जुदे विकल्प हैं। दूसरेका संकट अपनेसे बड़ा संकट नहीं मालूम होता, बल्कि उसके संकटपर मजाक भी करता है—कैसा अज्ञानी, कैसा मोही? सो भैया! कल्पनाओंके कारण दुःखी होता रहता है यह जीव और यह कल्पनायें भी नहीं छोड़ता। सो दूसरोंके संकटपर हँस सकने वाले तो बहुत लोग हैं, पर खुदपर संकट आये तो उसपर हँसने वाला यह खुद नहीं है, क्योंकि पर्यायबुद्धि है। चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसी बुद्धि बने तो वहां संकट नहीं होते।

१२—परकी आशा तजकर ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वका आश्रय लेनेमें अपनी विजय—भैया! पहली बात तो यह है कि इस संसारके प्राणियोंने अपनी बात ही ठीक नहीं कर पायी। मुझे संकट न चाहिए, यह निर्णय अब तक नहीं बन पाया। संकट चाहे कितने ही आयें, पर मेरेको तो राग चाहिए, मेरेको रागका साधन चाहिए, यह विचार बना है जीवोंके।

संकट न चाहिए, यह विचार अब तक बन ही नहीं पाया। संकटोंमें ही खुश रहते हैं, संकटोंके ही साधन सोचते हैं और उन्हीं संकटोंमें कभी-कभी विचार भी कर लेते हैं कि यह हम पर बहुत बड़ा संकट है, यह न चाहिए। संकट है जीवको तो यह कि अपने ज्ञानस्वरूपकी उपासनाको छोड़कर किसी भी परपदार्थमें अपना उपयोग बसाते। अपना ज्ञान अपनेसे बाहर घूमे, यह इस जीवपर संकट है। संकट किसी दूसरेसे नहीं होता। विकार किसी दूसरेसे नहीं आता। सबमें हमारा ही विकार, अपराध कारण है। दूसरोंके अपराधसे मुझपर संकट नहीं आते। अपना ही परिणाम बिगड़ेगा, बुरा बनेगा और व्यवहारमें ज्यादासे ज्यादा कोई कर पायगा तो विकल्प ही तो करता और निमित्तनैमित्तिक भावसे इष्ट अनिष्ट पदार्थोंका संयोग-वियोग हो जाय, अगर इष्ट मिल जाय तो इसमें संकट क्या मिटा? वह तो अंधा ही रहा, अपने भगवान आत्माकी सुध न कर सका। संसारमें ही रुलनेका काम किया और जो जहाँ बाहरी पदार्थ हैं उनकी यह परिणति हुई है, हो रही है। पुत्र हो, मित्र हो, स्त्री हो, भिन्न जीव हैं, उनके ये परिणाम बन रहे हैं। उनको ही अगर अटकी हो तो हमारी आज्ञामें रहेंगे, हमारी बात मानेंगे, और उनको खुदको सुख शान्तिमें अटक नहीं है तो वे जैसा चाहे व्यवहार करेंगे। हम उनपर क्यों मुग्ध हों कि ये बड़े आज्ञाकारी हैं, बड़े अच्छे मिलते हैं।

हमारा जैसा बेटा, हमारा जैसा बाप ये कहीं नहीं हो सकते। ऐसा नहीं है ऐसा कोई नहीं सोचता। सब स्वार्थवश प्रीति रखते हैं। आपके द्वारा सुख नहीं मिला आपके पुत्रको, पुत्रीको, मित्रको, फिर दूसरे यदि अच्छी तरह रह सके तो देख लो। जब तक खुद दूसरोंके सुख पानेमें, दूसरोंके सुखी होनेमें बैलकी तरह जुटते रहते हैं तब तक वे थोड़ा मुखसे अच्छा बोल देते हैं, तो उन्होंने मुखसे जरा अच्छा ही तो बोला—और यहाँ इतने मर मिटे उनके पीछे सारे जीवनभर कि प्राणों की बाजी लगा दी। तो जगत सब मायाजाल है, सारहीन है। यह रमने योग्य नहीं है। रमण करें तो इन समस्त संकटोंसे रहित निरापद आनन्दधाम जो निज चैतन्यस्वरूप है उसमें आवो, खेलो, रमो, क्रीड़ा करो, तृप्त होवो। बस यह ही धर्मपालन है। ॐ मेरा शरण है सो हे धर्म, हे धर्मपालन और धर्मपालनके फलरूप ज्ञानस्वरूप तुम जयवन्त हो, जयवन्त हो। इस तरह धर्म, धर्मपालन और धर्मपालनके फलके प्रतीक इस ॐ शब्दका जयवाद किया है।

१३—तीन लोकमें सर्वोपरि श्रेष्ठ चैतन्यस्वभावका जयवाद—हे अविकार ॐ जय जय, इसकी व्याख्यामें अब तक तीन बातें कही गईं। ॐ के मायने हैं धर्म, वस्तुस्वभाव, आत्मस्वरूप, सहज चैतन्यभाव। यह अविकार है, उसके जयवादमें कहा गया कि हे अविकारी ॐ जय जय। दूसरा है

धर्मपालन। धर्म है आत्माका ज्ञानस्वभाव और उसकी श्रद्धा करना, उसका ज्ञान करना, उसमें मग्न होना, यह है धर्मपालन याने रत्नत्रय। तो हे अविकार रत्नत्रय स्वरूप धर्मपालन ॐ जयवन्त हो, जयवन्त हो। तीसरी बात कही गई कि धर्मपालनके फलमें जो साधुपरमेष्ठी सिद्ध भगवन्त हुए हैं वे अविकार हैं और वे जयवन्त होवें। इस तरह धर्मका जयवाद, धर्मपालनका जयवाद और धर्मपालनके फलमें जिनका विकास हुआ उनका जयवाद किया गया है। अब इस ही ॐ को इस रूपमें देखें कि यह ही तीन लोकमें सार है याने आत्माका जो सहजस्वभाव है वह तीन लोकमें श्रेष्ठ तत्त्व है। इसकी ध्वनि निकलती है ॐ में। ॐ में तीन अंश करें—अ, अ, उ इनकी संधि होनेसे बनाओ ऊ, फिर चंद्रबिन्दु (‿) और उसके ऊपर शून्य (०) है। ओ का अर्थ है तीन लोक—अधोलोक, अवनिलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोकका अर्थ है नीचेका। लोक, नरक लोक, अवनिलोकका अर्थ है मध्यलोक, जहाँ पृथ्वीका समतल है और ऊर्ध्वलोकका अर्थ है मेरु पर्वतके शिखरके ऊपर से लोकके अन्त भाग। तो ओ में आ गये तीन लोक और तीन लोकके ऊपर है सिद्धशिला, जो चन्द्राकारके रूपमें है। और उसके ऊपर विराजमान है शून्य (०) रागादिक विकारसे रहित इस चैतन्यज्योतिका यहाँ जयवाद किया जा रहा है। तो जो रागादिक विकारोंसे रहित है ऐसा शुद्ध आत्मा, सिद्ध

प्रभु यह ॐ में इस तरह विराजमान है जैसे तीन लोकके ऊपर सिद्धशिला और इसके ऊपर सिद्ध भगवान् विराजे हैं। उनको निरखकर ज्ञानी कहता है कि हे अविकारी ॐ जयवन्त हो, जयवन्त हो।

१४—ज्ञानकी पर्यायोंमें रहने वाले ज्ञानसामान्यका जयवाद—अब ५वीं बात ॐ में क्या नजर आती है कि ज्ञानकी सब पर्यायोंमें एक सहज सिद्ध परमात्मतत्त्व अन्तःप्रकाशमान है। इसके भी इसी प्रकार तीन हिस्से किए। ॐ में आये ५ ज्ञान। ५ ज्ञानोंका नाम है अभिनिबोधिक ज्ञान याने मतिज्ञान। दूसरा नाम है आगम ज्ञान मायने श्रुतज्ञान। तीसरा है अवधिज्ञान। चौथा है अंत.करणपर्ययज्ञान। मनका दूसरा नाम है अन्तःकरण। सो मनःपर्ययज्ञान कहो या अन्तःकरणपर्ययज्ञान कहो एक ही बात है और ५वां ज्ञान है उत्कृष्ट ज्ञान याने केवलज्ञान तो इन सबके प्रथम प्रथम अक्षर लिख लीजिए। आभिनिबोधिक ज्ञानका अ, आगमज्ञानका अ, अवधिज्ञानका अ और अन्तःकरण पर्ययज्ञानका अ, तो चार अ मिलकर एक ही आ रहा। संधि होनेपर और उत्कृष्टज्ञानका उ, यों अ में उ और मिलकर ओ बन गया। अब इस ओ से तात्पर्य निकला कि ५ प्रकारके ज्ञान ये पर्ययरूप हैं, जिनका प्रसिद्ध नाम है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। अब इनके ऊपर विराजमान है शून्य, जो कि अनुभव

गम्य होता है। इसी कारण अनुभूति कलाके मध्यमें है यह शून्य। यह है ज्ञानसामान्य। इस सामान्यका न आदि है, न मध्य है और न अन्त है। जैसे शून्य ही शून्य हो, मानो अंगुलीमें कोई छल्ला पड़ा है या हाथमें चूड़ी पड़ी है तो उसमें कोई बता सकता है क्या कि यह चूड़ी कहाँसे शुरू हुई? क्या मध्य पड़ता है और कहाँ खतम हुई? नहीं बता सकता। तो जैसे चूड़ीका आदि, मध्य, अन्त नहीं आकारमें, ऐसे ही शून्यमें भी आदि, मध्य, अन्त नहीं होते। तो ऐसे ही ज्ञानसामान्य है जिसकी आदि नहीं, अन्त नहीं। जब आदि अन्त नहीं तो मध्य भी नहीं। तो ऐसे आदि, मध्य, अंतसे रहित ज्ञानसामान्य की इस ॐ में उपासना बसी हुई है। उस सहज ज्ञानस्वभावके प्रति ज्ञानी संत कहता है कि हे अविकारी ॐ जय जय। विकाररहित ज्ञान सामान्य चैतन्यस्वरूप तुम्हारा जय हो, जय हो अर्थात् उत्कृष्ट विकासको प्राप्त होवो। तो यों ॐ शब्दमें यह दिखा कि ५ ज्ञानपर्यायोंमें अनवरत ज्ञानसामान्य शाश्वत विराजमान रहता है उस ज्ञानस्वभावको यहाँ पूजा जा रहा है, जयवाद किया जा रहा है।

१५—सप्त तत्त्वगत आत्मैकत्वका जयवाद—अब इस ॐ में जिसका कि जयवाद किया गया इसमें ७ तत्त्व इन शब्दोंमें पड़े हुए हैं। ७ तत्त्वोंके प्रसिद्ध नाम हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इसका दूसरा नाम यह

कहा जा सकता है—आत्मा, अनात्मा, आस्रव, अनुस्थिति, अनुत्पत्ति, उत्सरण और मोक्ष। सबका आदि आदि अक्षर लेकर संधि कर लो। आ उ म यों ॐ बन गया। ॐ में जो ये ७ तत्त्व दिख रहे हैं ये ही तत्त्व जब अभूतार्थ विधिसे देखे जाते हैं तो इसका विश्लेषण बनता है, प्रतिपादन होता है, तीर्थप्रवृत्ति होती है और जब भूतार्थ विधिसे इन ७ तत्त्वोंको निरखा जाता है तो ७ तत्त्वोंमें एकत्वको प्राप्त जो ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है वह दृष्टिमें रहता है। तो इस ॐ में हमें भूतार्थविधिसे ७ तत्त्वोंमें गत सहज चित्स्वभावकी स्मृति होती है। उस ज्ञानसामान्यके प्रति कहा जा रहा है कि हे अविकारी ॐ जय जय जय। ७ तत्त्वोंमें अन्तःप्रकाशमान जो ज्ञायकस्वभाव है चैतन्यस्वरूप, प्रतिभासमात्र वह अविकार है, स्वरूपमें वही स्वरूप है। आत्माके स्वरूपमें किसी परका प्रवेश नहीं, परभाव भी झलकता है तो वह नैमित्तिक है, इस स्वरूपमें वह विकार नहीं, किन्तु यहाँ ज्ञान-ज्ञान प्रकाश ही बसा है, ऐसे हे, ज्ञानप्रकाशमय ॐ जयवंत होवो। ॐ शब्दको लोग बड़े महत्त्वसे देखते हैं और बड़ी उपासनाकी दृष्टिसे अनेक दार्शनिकोंके वचन हैं। उसका कारण यह है कि ॐ में पूज्य पुरुष और मुक्तिका उपाय, सबका इसमें मर्म निहित है।

१६—एकत्वगत सद्ब्रह्मका जयवाद—ॐ शब्दको जब बहुत सामान्य विधिसे देखा जाय तो इसमें जगतके समस्त

पदार्थ आ जाते हैं। इसमें तीन शब्द हैं—अत्यय, उत्पाद और मध्य। अत्यय मायने विनाश, उत्पाद मायने उत्पत्ति और मध्य मायने ध्रौव्य। जो उत्पाद व्यय करके भी सबके बीच रहता है उस तत्त्वको कहते हैं मध्य। तो जगतमें जितने भी सत् हैं वे सब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त हैं। यदि इन तीनोंमें से कोई न हो तो सत्ता नहीं हो सकती। तो अणु-अणु प्रत्येक जीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और प्रत्येक कालद्रव्य ये सब उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त हैं। तो ॐ शब्दके कहनेसे समग्र वस्तुका बोध होता और साथ ही यह भी बोध होता कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमें अविकार है, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, इनमें न कभी विकार हुआ, न है और न हो सकता। सदा स्वभाव पर्यायरूप ही वर्तते हैं। विभाव, विकार केवल दो प्रकारके पदार्थोंमें ही सम्भव है जीव और पुद्गल। तो इसके स्वरूपमें भी देखो तो प्रत्येक जीवका स्वरूप अविकार है, विकार नहीं है, दुःख भी नहीं है। हम दुःख बनाकर भोगते हैं, पर मेरे स्वरूपमें दुःख नहीं है। किसी परको न मानो कि मेरा है, लो दुःख मिट गया, और किसी परजीवमें, परपदार्थमें यह बुद्धि हो कि मेरा है तो कष्ट आ गया। अपना ही विचार और अपने ही ज्ञानसे कष्ट आनन्द मिलता है, कोई दूसरा पुरुष कष्ट नहीं देता। हम ही उस प्रकारका विचार बनाते हैं और अपनेको दुःखी करते हैं। तो

हमारे स्वरूपमें कष्ट नहीं, और पुद्गल अणुके स्वरूपमें भी विकार नहीं। तो प्रत्येक पदार्थ अविकार है। ऐसे हे अविकार ॐ अर्थात् जगतके समस्त स्वरूपगत पदार्थोंका समूह सद्ब्रह्म जयवंत हो, जयवंत हो।

१७—ॐ के मूल अक्षरोंके उच्चारणकी मुद्रा द्वारा पतन से उठकर उत्कृष्ट तत्त्वमें पहुंचनेका दिग्दर्शन करनेके लिये आद्य ज्ञातव्य—ॐ शब्दमें मोक्षके उपाय, मोक्ष जिसने पा लिया वह परमात्मा और मोक्ष प्राप्त करनेका जो उद्यम कर रहे हैं वे साधु जन सभीका स्वरूप उस ॐ में विदित होता है तो अब देखिये क्रम कि कैसे पतनकी दशासे उठकर उत्कृष्ट परमात्मतत्त्वको प्राप्त किया जाता है? यह रहस्य जिसने जाना वह पुरुष पुण्यात्मा है, धर्मात्मा है और अपने आपमें शांतिका विस्तार करता है, जगतके जीव अशान्त दिखते तो हैं, लेकिन स्वरूपमें अशान्त नहीं हैं। हम कल्पनायें बनाते और दुःखी होते। मेरा मात्र मैं ही हूं, इसपर आस्था नहीं है, किन्तु जीवों को और बाहरके चेतन अचेतन पदार्थोंको निरखकर कल्पनायें उठाते हैं कि ये मेरे हैं यह भ्रम ही क्लेश है। यह जगत एक मायाजाल है, गोरखधंधा है। यहाँ जो समागम मिलता है वह बरबादीका ही हेतु होता है, शान्तिका कारण नहीं होता, क्योंकि उसमें क्या रखा? और इसमें जो बाधक जंचे उसमें क्यों द्वेष? और भीतरमें अज्ञान होनेसे मोह बसा है तो यह

स्थिति हो जाती है किसी भी परतत्त्वको अपनानेकी। तो हम कल्पनायें करते हैं, बाह्य पदार्थोंमें बुद्धि लगाते हैं, यह मेरा है, यह मैं हूं सो इतना बड़ा जो अपनेपर अन्याय किया याने जो अनहोनी बात है उसे होनी करना चाहते हैं। तो इतने बड़े अन्यायका, अत्याचारका, अपराधका तो संसारमें रुलना ही दंड है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमें निर्दोष है, विकाररहित है। मैं भी अपने स्वरूपमें निर्दोष हूं, विकाररहित हूं। यहाँ जो अपना उपयोग लगाये वह संकटोंसे छूट जाता है और जो इस निज तत्त्वमें उपयोग नहीं लगाते और बाहरी पदार्थोंको अपनाते, ये मैं हूं, वे संसारमें भ्रमण करते हैं। हाँ तो ॐ एक उच्चारणमुद्राकी दृष्टिसे मुक्तिका उपाय बता रहा है। ॐ, इसमें तीन शब्द हैं—अ, उ और म। देखो कोई भी व्यञ्जन स्वरका सहारा लिए बिना नहीं बोला जा सकता। स्वर तो अकेला बोला जाता है—अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ। बिना किसी दूसरे वर्णका सहारा लिए खुद बोला जा सकता है, मगर जो व्यञ्जन हैं क ख ग आदिक, इनको स्वरका सहारा लिए बिना नहीं बोला जा सकता। कोई सिर्फ क इसको बोलकर तो बताये। कोई कहे कि बोल तो दिया क, तो नहीं बोला, क में अ मिला हो तब बोल सकते। शुद्ध क को नहीं बोला जा सकता। कहे कि अच्छा लो "क्या" बोल दिया ना आधा क। नहीं नहीं, "क्या" जब यह शब्द बोला तो स्वर तो य

में लगा है, सो उस स्वरका सहारा या ने लिया, मगर "क्या" में आधा क (क्) तो बोल दिया। हाँ बोल तो दिया "क्या"। अच्छा तो लो सुनो—इसमें क् पूरा तो नहीं बोला, लेकिन इस क्या में क् तब बोला गया जब इसने या का सहारा लिया। स्वर सहित वर्णका सहारा मिला है क् को तब "क्या" कहनेमें आधा क (क्) बोला जा सका। व्यञ्जन कहते हैं एक असहाय शब्दको, जिसको किसीका सहारा लिए बिना नहीं बोला जा सकता वह है व्यञ्जन। और स्वर उसे कहते हैं जो स्वयं बोला जा सकता है स्वरका अर्थ है स्वयं राजते इति स्वर, जो स्वयं उच्चारणमें आवे वह तो है स्वर और व्यञ्जन है वि अंजन, जिसका अंजन विगत हो गया, कुछ भी सहारा नहीं है, असहाय हो गया। जिसे कहते हैं हलन्त।

१८—पतनसे हटकर उत्कृष्ट स्थितिमें पहुंचनेकी मंजिल का दिग्दर्शन—तो यहाँ ॐ शब्दकी बात कही जा रही है—अ उ म इसमें तीन शब्द हैं। इन तीन शब्दोंके बोलनेकी प्रक्रिया तो देखो—जब अ बोलते हैं तो मुख कितना खुल जाता है? मुखको बंद किए हुए कोई अ नहीं बोल सकता। अ बोलनेमें पूरा मुख खुलता है। तो जैसे अ के बोलनेमें पूरा मुख खुलता, ऐसे ही बहिरात्मा मोही जीवोंका पूरा मुख खुला है बाहरकी ओर, परकी ओर मुख होता है तो यह अ बहिरात्माका प्रतीक है। जब उ बोलते हैं तो उ बोलनेमें मुखका आकार देखो कि

वह फैला भी नहीं और बन्द भी नहीं। अगर बन्द होवे तो वह तो परमात्माका प्रतीक बने और मुख खुल जाय तो वह बहिरात्माका प्रतीक बने। उसे अन्तरात्माकी स्थिति होती है। भीतरमें ज्ञानप्रकाश है जिसके कारण वह अंतः अनाकुल रहता है, पर पूर्वबद्ध कर्मका उदय है जिससे कुछ रागद्वेष विकारमें आना पड़ता है। ऐसी स्थिति अन्तरात्माकी है। और जब म बोलते हैं तो दोनों ओंठ बन्द हो जाते हैं। बिना पूरा मुख बंद किए म नहीं बोला जा सकता। ऐसे ही परमात्माने विकार आदिक पूर्ण बंद रहते हैं, कोई विकार नहीं हैं, निर्दोष हैं। तो ये ॐ में पड़े हुए जो तीन शब्द हैं—अ, उ म, इनकी प्रक्रिया यह बतलाती है कि अ से हटकर उ बने, उ से हटकर म बने, जिसे कहते हैं बहिरात्माको हेय करके अन्तरात्मा बनकर परमात्मा होना चाहिए। तो ऐसे ॐ शब्दमें बहिरात्मापनसे हटकर परमात्मत्वको प्राप्त करनेका संकेत दिया है। ऐसे संकेतमें रहने वाली जिनवाणी, जैनशासन, मुक्तिका उपाय जयवन्त हो, जयवन्त होवो। तो इस प्रकार अविकार ॐ जय जय, इसमें स्वभावका दर्शन है। स्वभावमें श्रद्धा, ज्ञान, आचरणका दर्शन है और स्वभावकी उपासना करके जो विकासको प्राप्त होते हैं उन पवित्र आत्माओंका दर्शन है और उसके जो कुछ उपाय बताये गए हैं उन सब उपायोंका दर्शन मिलता है। ऐसा इस परमात्म-आरतीमें जो प्रथम ही प्रथम उच्चारण

किया है—ॐ जय जय अविकारी, इसमें अविकारी सहज ज्ञानघन, आनन्दमय अंतस्तत्त्वका जयवाद किया। जगतमें काम्य और प्रेय अपना आत्मा है, जिसकी कामना करना चाहिए, जिसकी प्रतीति प्रीति होनी चाहिए वह है खुदका खुद आत्मा। कोई पुरुष किसी दूसरेपर प्रीति कर ही नहीं सकता। भिन्न पदार्थ हैं। हम अपने प्रदेशोंसे बाहर कुछ भी नहीं कर सकते। तो जब हम दुःखी होते हैं तो अपनेमें कुछ कल्पनायें बनाते और दुःखी होते हैं। जब आनन्दमय होते तो अपने विशुद्ध स्वरूपको निरखते हैं और उसमें आत्मपनेका अनुभव करते हैं। ऐसे इस ॐ में अपना ही स्वरूप दिख रहा है, उस अंतस्तत्त्वके प्रति ज्ञानी संत कहता है कि हे अविकार ॐ जयवंत हो, जयवंत हो।

१९—ॐ की मुद्रामें ऊपर स्वानुभवगम्यताका अलंकार—हे अविकारी ॐ, जय जय। विकार रहित ॐ जयवन्त होओ। इस ॐ शब्दसे मुख्यतया संकेत होता है सहज अंतस्तत्त्वका, अपने आपमें अनादि अनन्त अहेतुक सतत अंतःप्रकाशमान जो ज्ञानस्वभाव है उसके प्रति जयवादकी बात कही जा रही है। इसका प्रतीक है ॐ के आकारमें अर्द्धचन्द्रके ऊपर रहने वाला शून्य (०), यह शून्य हमारे अंतःस्वरूपकी याद दिलाता है, शून्य है, रहित है, जिसमें अन्य कुछ परभाव नहीं है। मात्र एक जाननस्वरूप है, वह है अपना अंतस्तत्त्व।

उसका आदि नहीं, अंत नहीं तो फिर मध्य भी क्या? कबसे है यह आत्मस्वरूप? उसकी आदि नहीं। कब तक रहेगा यह अंतस्तत्त्व? उसकी सीमा नहीं। ऐसा अनादि अनंत अंतस्तत्त्व जयवन्त होवो अर्थात् मेरी दृष्टिमें आवो और मेरे ज्ञानमें रहा करो। यह ज्ञान अपने इस ज्ञानस्वभावको जानें अर्थात् यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करे, यह है इस सहज परमात्म तत्त्वका जयवाद। वह शून्य तत्त्व, वह अंतस्तत्त्व कैसे प्राप्त होता है? तो किसी आकारमें अर्द्धचन्द्र है, वह बताता है कि अनुभूतिसे ही पाया जाता है, जिसको अमृतचन्द्र सूरिने कहा है—स्वानुभूत्या चकासते। यह अपना सहज सिद्ध परमात्मतत्त्व स्वानुभूतिसे प्रकाशमान होता है, स्वानुभूतिकी गोदमें है वह शून्य (०) जैसे कि ॐ लिखा है तो स्वानुभूति है एक कला। जैसे दोजके चन्द्रकी क्यों महिमा गाते हैं लोग? उसमें बढ़ने-बढ़नेका ही सतत काम है, घटनेका नाम नहीं है। इतनी तो पूर्ण चन्द्रकी भी लोकमें महिमा नहीं जितनी दोजके चन्द्र की महिमा बतायी जाती है। तो एक दृष्टि है जिसमें बढ़ाव हो और बढ़-बढ़कर पूर्ण हो जाय। पूर्ण भी पूज्य है और जिसके आधारसे बढ़ाव होता है वह भी पूज्य है। तो यह अर्द्धचन्द्र, यह स्वानुभूतिका प्रतीक है जिस स्वानुभूतिके द्वारा यह शून्य ज्ञायकस्वरूप प्रकाशमान है, चकासमान है, वह अंतस्तत्त्व जयवन्त होओ। तो यह साक्षात् बात कही कि यह

ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व स्वानुभव द्वारा प्राप्य है।

२०—**नयप्रमाणातीत होकर स्वानुभव द्वारा अखण्ड तत्त्वकी गम्यता**—अच्छा स्वानुभव कैसे प्राप्य है ? कैसे यह स्वानुभव प्राप्त होता है ? लो उसकी भी विधि इस ॐ के आकारमें पड़ी हुई है। उस स्वानुभूतिसे नीचे, उस अर्द्धचन्द्रसे नीचे जो ॐ बना है उसका आकार है पहले तो (३) जैसा अंक और उसमें सीधा डंडा (—) और उसके बाद शून्य (०) तो यहाँ ये तीन हिस्से बने। तीन (३) का अंक, जोड़ने वाला डंडा (—) और आगे शून्य (०)। ३ (तीन) का अंक व्यवहारनयका प्रतीक है, ० (शून्य) निश्चयनयका प्रतीक और ये दोनों चूंकि इसके विपरीत विषय हैं, निश्चयनय अभेदको ग्रहण करता, व्यवहारनय भेदको बताता, तो विषय तो इसका एक दूसरेसे उल्टा है ना इसलिए ये दूर-दूर ही रहते हैं, इनका जोड़ कैसे हो सकता ? विषय इनके जुदे-जुदे हैं, लेकिन ये जुदे जुदे पड़े रहें, एकान्त कर दें तो न व्यवहारनयकी खैर, न निश्चयनयकी खैर। यह ही भाव दर्शाता है वह बीचका डंडा (—) जो ३ (तीन) से चिपका है और ० (शून्यसे) चिपका है अर्थात् निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्। निरपेक्षनय झूठा होता है, सापेक्षनय कार्यकारी होता है, किसी भी नयका एकान्त बन जाय तो वह भी स्याद्वादसे बाह्य हो जाता है, और चूंकि जैनसिद्धान्त स्याद्वादगर्भित है, अनेकान्तरूप है तो

अनेकान्तकी पद्धतिसे वर्णन करें तो वर्णन करने वाला तो अलग कुछ न दिखेगा। वर्णन एक प्रवाहमें ही मग्न हो गया। तो जो वीतराग साधु संत होते हैं, जिनको आत्महितकी वांछा है, जगतमें अपने यश बड़प्पनकी चाह नहीं रखते वे तो अनेकान्तका सहारा लेकर इस ही प्रवाहसे चले आये हुए जैनशासनका विस्तार बनाकर उस ही में गुप्त हो जाते हैं। हाँ अलगसे यश, बड़प्पन या कुछ जुदापन तब ही जंचेगा जब किसी नयका एकान्त करके बोला जाय। पर यह पद्धति जैन-शासनमें नहीं है। यह बतला रहे हैं ॐ का आकार—व्यवहारनय और निश्चयनय। इन दोनोंका प्रमाणसे सम्बंध है। प्रमाणसे जाने हुए पदार्थमें फिर अभेदग्राही निश्चयसे जानो, भेद प्रतिपादक व्यवहारसे जानो। दोनोंका अपने-अपने पदमें स्थान है। ऐसा व्यवहारनयसे सीखो, निश्चयनयसे शिक्षा लो और उन दोनोंको सापेक्ष बनाओ, प्रकरणसे बाहर मत जाओ। इतनी तो हुई अपने आपकी तैयारी (पात्रता)। विशुद्ध जानकारी बनायें, लेकिन यह ॐ का आकार जो इस ॐ से ऊपर उठा हुआ जुदा जो अनुभवकला है अर्द्धचन्द्राकार (‿) वह यह बताता है कि प्रमाण, नय, निक्षेप, इनसे भी अतीत बनो, इनसे भी जुदा बनो। वह स्थिति अनुभवकी होती है। और उस अनुभवके द्वारा यह ० (शून्य) विशुद्ध ज्ञायकस्वरूप प्राप्त होता है। इन दो उपायोंमें रहकर, इन उपायोंसे आगे बढ़कर

स्वानुभूतिके द्वारा जो वास्तवमें गम्य है, ऐसे हे ज्ञायकस्वरूप, हे अन्तस्तत्त्व, जयवन्त होवो, जयवन्त होवो। जयवन्त होनेके मायने हैं कि ज्ञानमें, उसके उपयोगमें। बस यह ज्ञानस्वरूप बसो। इनमें ही हमारा सर्व कुछ निर्णय बनो, मैं यह हूं, मेरा सर्वस्व यह है, इसको ही मैं करता हूं, भोगता हूं या मैं इन्हीं परिणामोंको ही मैं भोगता हूं। बाहरमें बाह्य प्रदेशोंमें कहीं भी मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है। ऐसा ज्ञान और वैराग्य दोनों का ही सम्हाल करने वाला यह ज्ञानी संत इस अंतस्तत्त्वकी उपासनामें रहकर अपने इस दुर्लभ मानव-जीवनको सफल करता है। क्या होना है अन्तमें ? अपने ही स्वरूपमें एकरूप, एकतान हो जाता है, जिसे स्वानुभव कहते हैं।

१—सहजज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी वार्ताके श्रवणका महत्त्व—ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप समाये, ऐसी उत्कृष्ट अलौकिक बात करनेके लिए सर्वप्रथम जरा उस बातको सुनो तो सही। जैसे कोई आदमी भागना चाहता है और उसे मनाते हैं तो कहते हैं—अरे भाई सुनो तो सही, मानो या न मानो, तुम्हारी बात, पर इतनी बात पूरी सुन तो लो। तो किसी भी एक उपादेय तत्त्वमें प्रवेश पानेके लिए पहले उद्यम तो सुनना है। सो पद्मानन्दी आचार्य कहते हैं कि—"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यो याति निर्वाणभाजनम्॥" इस ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्वके प्रति जिसने बात भी

सुनी प्रीतिचित्त होकर उसमें रुचि की, वह निश्चित भव्य है और निर्वाणका पात्र है। सो यह तो अपने-अपने अनुभवसे समझा जा सकता है कि हमको अपने इस सहज ज्ञायकस्वरूप आत्माकी बात सुननेमें कितनी रुचि है ? शास्त्रसभामें कोई घरसे बालक आ जाय और थोड़ी बात कहे—घरपर अमुक काम है, तो उसकी बात सुनकर उठ जानेकी चाह है या यह कैसा आ गया विघ्न, क्यों आ गया ? उसकी उपेक्षा करके थोड़ा सुननेको भी जी चाहता है, लो इसीमें फैसला बसा है कि किसके प्रति प्रीति बसी हुई है ? बहुत बड़ी रुचिपूर्वक जिसने इस आत्मस्वरूपकी भी बात सुनी वह पुरुष भव्य है। तो सर्वप्रथम उपाय है कि इस अंतःस्वरूपकी बातको तो सुनो—तो अपने आपमें भावना बनायें कि इस आत्माके वास्तविक स्वरूपकी बात सुनूंगा।

२२—अन्तस्तत्त्वके अवग्रहण, धारण, रुचि प्रतीति श्रद्धान ध्यानकी भावना—सहज ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वकी बात सुन करके फिर मैं क्या करूं ? उसका अवग्रह करूं, उसकी झाँकी लूं, कुछ उसकी जानकारी कर लूं और ऐसा अनुग्रह करनेके बाद फिर उसको अपने चित्तमें धारण करूं। कितने ही पुरुष तो सुनना ही नहीं चाहते। कोई सुनकर उसका अवग्रह नहीं करते। थोड़ी बहुत झाँकी आती, समझ बनती तो उसे हृदयमें ज्ञानमें धारण नहीं करते। इस अन्तस्तत्त्वकी

बात सुनूँ, उसका अवग्रह करूँ और उसको अपने चित्तमें धारण करूँ। अवधारणका यह प्रभाव है कि जब चाहे उसका स्मरण कर सकते हैं। ऐसा अवधारण करूँ, ऐसा मैं अपनेको स्पष्ट पा लूँ कि इतनी पात्रता बन जाय कि उस बातको दूसरों को भी बतानेमें समर्थ होऊँ। बताऊँ या न बताऊँ। बतानेकी उमंग नहीं, तथापि स्पष्ट रूपसे जाना है, इसका चिह्न हो सकता है कि वह दूसरोंको बता सकता है। तो उस अंतस्तत्त्व के स्वरूपको सुनूं, अवग्रह करूँ, धारण करूँ और उस ही की बात बोलूँ। इतनी जब एक अपनेमें पात्रता जगती है तो इसके आगे फिर यह ज्ञानी संत और बढ़ता है, उस ओर जाता है। अन्तस्तत्त्वको सुन लिया, निश्चय कर लिया, बता दिया, पर उसके प्रति रुचि अधिक है तो वह उसकी ओर जाता है, जानता है, प्राप्त करता है, उस ओर अभिमुख होता है। आत्मस्वरूपकी ओर अभिमुख हो सके तो यह आत्मा दूर नहीं हैं। उसकी ओर अभिमुख होऊँ और उस अंतस्तत्त्वको जानूं। ज्ञानमें अब वह स्वरूप आये, जिस ज्ञानमें बाहरी बातें आया करती हैं ये भी न आयें और मेरे स्वरूपमें, मेरे ज्ञानमें आये, यह तो स्वद हैं। मैं आत्मा भी तो पदार्थ हूं। किसी परके सम्बंध बिना, परके आश्रय बिना मेरा अपने आप कोई स्वरूप है ना, उस स्वरूपको मैं जानूं, और जानकर उसे मानूं। कोई जान तो ले और माने नहीं। जाननेमें क्या नहीं जानते?

कोई अन्यायकी बात करता हो और उसे लोग समझायें तो जान तो लिया उसने कि यह मेरा अपराध है, अन्याय है, लेकिन कषाय उसके लगी है तो वह मानता नहीं है, जान तो लेता है। अच्छा इतने धर्मोपदेश होते हैं, अनेक स्वाध्याय किए गए हैं तो जानना तो हो गया ना, पर मानते कहाँ हैं? मानने में बड़ा बल चाहिए। पढ़ रहे हैं लिखा है कि मोह करना बुरा है, बाह्य पदार्थ हैं, उनसे मेरा सम्बंध क्या? तो इतनी बात पढ़ते हुए में क्या जाना नहीं जा रहा? पर मानता कौन है? तो जानकर माननेमें कुछ विशेष बल आवश्यक होता है। जान लिया, मान लिया और अब उसकी चाह बनावें, समझ लिया, बस यही बात बनो। ऐसा ज्ञानी संतका अन्य किसी विषयसाधनमें चित्त नहीं जाता। मान लिया अपनेको और दृढ़तासे मानता है, उसकी उमंग होती, चाह जगती और उस चाहका फल यह होता कि उसकी रुचि बढ़ती जाती। रुचिकी पहिचान है कि जिसको जिसके प्रति रुचि बनी है वह सैंकड़ों संकट सहकर भी उसको ही प्राप्त करता है। यह है एक रुचि की पहिचान। तो मैं इस अंतस्तत्त्वकी रुचि करूँ और उसका प्रत्यय बनाऊँ, उसकी आस्था बनाऊँ, उसमें आदर जगे और उसकी श्रद्धा बनाऊँ। यह ही हित है, ऐसे अन्तस्तत्त्वके प्रति दर्शन भावना बने, उसमें ही हितकी बात समझमें आये, यह है श्रद्धा। श्रद्धा करूँ और बार-बार उसकी ही भावना भाऊँ।

किसीको अपने पुत्रसे बड़ी रुचि है तो दिन भरमें ५-६ बार तो उसकी चर्चा कर ही लेते होंगे—मेरा मुन्ना बड़ा सीधा है, आज्ञाकारी है, कुशल है। तो ऐसे ही यदि अपने अंतस्तत्त्वकी श्रद्धा हुई है तो क्यों न दिनमें अनेक बार उसकी भावना बने? में उसकी भावना करूँ और उसमें ही अपना ज्ञान जुटाऊँ, ध्यान करूँ। जगतमें ध्यानके योग्य तत्त्व यह ही है। इसे छोड़कर अन्य कुछ ध्यातव्य नहीं है।

२३—अन्तस्तत्त्वके स्पर्श लाभ प्रतपन संचेतन एकीभवन आदिकी भावना—इस अन्तस्तत्त्वका ऐसा ध्यान करूँ कि उसका स्पर्श हो और अपने अंतस्तत्त्वको अनुभवस्थितिमें छू लूं। स्पर्शका बहुत महत्त्व है। तब ही बताया है एक छन्दमें कि प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः। इसका सुपरिचय मोक्षका मूल है। इसकी जो प्रतीति करता है, श्रद्धान करता है और स्पर्श करता है वह मतिमान निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है। स्पर्श करूँ और प्राप्त कर लूँ। जैसे कोई चीज मेरे हाथ आती है, ऐसे ही अपना अंतःस्वरूप अपनी दृष्टिमें आया हुआ है। हाथ आयी हुई चीजमें कोई विवशता अनुभव तो नहीं करता, ऐसे ही जिसको किसी भी स्थितिमें विवशता न ज्ञात हो ऐसा अपनेमें प्रताप बने, प्रभाव बने तो समझिये कि हमने उस चीजको पा लिया, और प्राप्त करके फिर मैं उसमें ही तपूं याने किसी भी मूल्यपर, किसी भी कष्टपर मैं

ससे अलग न होऊँ, उस ही में अपने उपयोगको न रखूं तो हाँ स्वानुभव बनता है और उस स्वानुभवके बाद वह जीव समें एक रूप हो जाता है। उस ही का संचेतन होता और स ही में तन्मय हो जाता है। ऐसे इस ज्ञानस्वरूपमें मग्नता नेकी जो परिणति है वही परमात्मतत्त्वके विकासका मूल त्र है। तो उसमें इस जीवने जाना क्या? केवल एक ज्ञान-मात्र स्वरूप। ऐसा व्यवहारनय, निश्चयनय और प्रमाणसे प्रतीत विविक्त यह अंतस्तत्त्व ज्ञानमात्र प्रतिभासस्वरूप सदा जयवन्त हो, प्रकट हो।

२४—अंतः निरख और प्रसादमें उत्कर्ष—देखो सब कुछ खना है अपने आपमें। चूंकि प्रतिपादन, वर्णन, श्रवण भेद किए बिना नहीं बनता। कहा जा रहा खुदको, पर कहा जा रहा भेद करके, पर जो इसके मर्मको नहीं जानता तो वह न शब्दोंको ऐसा ही समझता है सुनकर कि क्या कहा जा रहा? जिसकी बात की जा रही? जैसे कोई किसीकी निन्दा की बात करता है तो यह उमंग होती है कि जानें तो सही कि किसकी बात की जा रही है? निन्दा तो निन्दा तब ही कहलाती जब उसके बारेमें यह मालूम पड़े कि इस व्यक्तिकी बात कही जा रही। केवल बात ही बात हो और व्यक्तिका सम्बंध न हो तो उसका रूप निन्दाका नहीं बनता। कोई खूब निन्दा करे—अजी बड़ा खोटा आचरण है, बड़ी कुबुद्धि है. व्य-

सनोमें रात-दिन रहता है। बात तो सुन ली, पर उसे स्पष्ट कुछ नहीं हो पाया। चीज तो समझ गए, यह व्यसन है, यह पाप है, मगर किसकी बात कही जा रही, एक किसी व्यक्ति का जब तक नाम चित्तमें न आये तब तक निन्दाका रूप नहीं बनता, ऐसे ही प्रशंसाका भी रूप नहीं बनता, और इसी तरह बात सुनकर तो यह समझ नहीं सकता कि किसकी बात कही जा रही, उसका अर्थ कुछ नहीं लगता। केवल एक सुनते गए बात, पर किसकी बात है ? भीतरकी बात है; अपनी ही बात है, यह बात जब समझमें आती है तो सबका अर्थ लग जाता है। नहीं तो अर्थ ही लगना कठिन रहता है। तो ऐसी यह कही जा रही है अपने आपके स्वरूपकी बात। जो ॐ के आकारसे, ॐ के बोलनेकी मुद्रासे, ॐ की निष्पत्ति उपपत्तिसे जिसकी ज्ञप्ति होती है, ऐसा यह सहज ज्ञानस्वरूप विकारसे परे है। ज्ञानमें विकार कहाँ ? विकारमें ज्ञान कहाँ ? यद्यपि ये विकार आते ही वहाँ हैं जहाँ ज्ञान है। तो भी विकारमें ज्ञान नहीं, ज्ञानमें विकार नहीं, ऐसा स्वरूपका भेद जिसने किया है वह पुरुष इस अंतस्तत्त्वकी बात रुचिपूर्वक सुनता है और त्वरित आगे बढ़-बढ़कर इस ही ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया करता है। तो ऐसे ॐ शब्दके द्वारा प्रकट हुआ यह ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व, इसकी विजय हो तो यह ज्ञानमें आये और मैं दोषोंको दूर करूँ, गुणोंमें वृद्धि करूँ, यही है इस ॐ

शब्दसे प्राप्त हमारा ही हमको शुभ आशीर्वाद।

ॐ जय जय अविकारी स्वामी०।

हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥टेक।

२५—ॐ की हितकारिता—अनेक अर्थोंमें परिचय किया गया यह ॐ जयवंत हो, जयवंत हो। इसकी बार-बार भावना करते हुए उसकी कुछ विशेषतायें बताते हैं कि यह हितका करने वाला है। ॐ शब्द द्वारा जब पंचपरमेष्ठीका ज्ञान किया गया तो उनका हित करने वाला है। किसी विरक्त साधु संत की भक्तिसे, सेवासे वैराग्यकी शिक्षा मिलती है और अरहंत सिद्ध भगवन्तके स्वरूपके ध्यानसे निज ज्ञानस्वरूपकी सुध होती है। अपना उपयोग जब-जब निज सहज ज्ञानस्वभावको समझे तब-तब इस जीवमें अलौकिक आनन्द प्रकट होता है। आनन्द ही हित है। जहाँ विशुद्ध सत्य सहज धोखारहित वास्तविक आनन्द जगे वही जीवका हित कहलाता है। जहाँ यह निरखा गया कि तीन लोकमें सारभूत यह विकारशून्य ज्ञायकस्वभाव है वहाँ इस ज्ञायकस्वभावके ध्यानसे ज्ञानकी अनुभूति होती है, यही हित है। तो इस ज्ञायकस्वरूपके ध्यान में आत्माका हित है।

अतः यह अविकारी है। ॐ में समझा था रत्नत्रयधर्म। यह ही वास्तविक हित है। इस ओर जिसकी दृष्टि है वह अपने हितके मार्गमें लगता है, इस कारण यह अहितकारी है।

हितका उपाय भी इस ॐ ने बताया। ७ तत्त्वोंका परिज्ञान करके उनको भूतार्थ पद्धतिसे देखो और अपने उपयोगमें केवल अविकार ज्ञानस्वभावको ही बसायें तो वहाँ जीवका कल्याण है। अतएव यह अविकारी अन्तस्तत्त्व हितकारी है। व्यवहार-नयके प्रयोगसे चलकर बढ़कर निश्चयनयकी बात समझें और दोनोंको सापेक्ष रखें और सब कुछ जान समझकर एकदम समस्त विकल्पोंसे नाता तोड़ें तो वहाँ परखा गया यह विकार शून्य ज्ञानस्वभाव जब आराधनामें होता है तो इस जीवको अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। यों यह अविकारी है, ॐ में ज्ञान ज्ञान ही तो दिख रहा है। ५ ज्ञान दिखे और ५ ज्ञानोंका स्रोत जो सहज ज्ञानस्वभाव है वह भी ज्ञानमे आया तो यहाँ सब ज्ञान ही ज्ञानका विस्तार है। ऐसा जो ज्ञानमय ही सर्व तत्त्वोंको निरखता है, उसके ज्ञानमें ज्ञान बसा रहनेसे अलौ-किक आनन्द प्रकट होता है। हित सही आनन्दमें है। विषयोंके आश्रयसे, आधीनतासे पाया हुआ कल्पित मौज हित तो क्या अहित ही है। अतः भ्रान्त मौजसे चित्त हटाकर अविकार ज्ञानस्वभावका आश्रय रखें तो वहाँ अलौकिक आनन्द प्रकट होता है और वह विधि हितकारी है।

२६—ॐ शब्दसे अन्तस्तत्त्वके आश्रयका शिक्षण—आत्मवस्तुको भी उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त जान लो, यह भी ॐ शब्द सिखा रहा है। अव्यय, उत्पाद और मध्य, इनके प्रति-

माक्षरोंसे बना हुआ यह ॐ शब्द यह शिक्षा दे रहा है कि हे आत्मन्! तुम उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त हो। वर्तमानमें जो तुम्हारी शुद्ध परिणति है, विकार है, बेचैनी है, सो घबड़ाओ नहीं, यह हमेशा नहीं रहता, इसका व्यय होता है, क्योंकि पर्याय है और व्यय होनेके बाद ऐसी ही पर्याय बने और व्यय होती रहे उसमें तो आत्माका हित नहीं है। स्वभावका आश्रय करे, एक विशुद्ध पर्यायका उत्पाद करे, यह आत्मा सदा रहने वाला है इसलिए परिणामोंकी सम्हाल बनाओ। यह शिक्षा दे रहा है यह ॐ और इसकी शिक्षापर जो चलता है वह अलौ-किक आनन्द पाता है। ऐसा यह ॐ हितकारी है। इस ॐ शब्द द्वारा वाच्य बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माके स्वरूपको देखकर ज्ञानीको यह उमंग उठती है कि बहिरात्मापन तो त्याज्य ही है, उसे छोड़ना और परमात्मतत्त्वका पाना बस यही एक सारभूत पर्याय है। तो बहिरात्मतत्त्व छूटे, परमा-त्मतत्त्व मिले उसका उपाय है अन्तरात्मा होना। अपने आत्माका अन्तरमें जो स्वरूप है उस रूपमें ही अपनेको अनुभव करना अन्तरात्मत्व विधिसे बहिरात्मपनेका त्याग होता है और परमात्मपदका लाभ होता है। सो ॐ का दर्शन हितकारी है। ॐ शब्दमें जिस शब्द द्वारा जाहिर है देव, शास्त्र, गुरु, आप्त, उक्ति, मुनि इनके स्वरूपको जानता है और उस उपाय पर चलता है उसको सहज आनन्द प्रकट होता है। इससे देव,

शास्त्र, गुरुका वचन बताने वाला यह ॐ शब्द हितकारी है।

२७—ॐ की भयहारिता—ॐ शब्द द्वारा वाच्य ज्ञानस्वरूपका ध्यान करनेमें हित है तो सर्व अहितका भय भी यहाँ दूर हो जाता है। उसका विनाश नहीं है। मैं अविनाशी हूं—इस श्रद्धामें विनाशका, मरणका भय नहीं रहता। मुझमें जो वर्तमान दशा बन रही है, यदि मैं गंदा आधार छोड़ूं और आत्माके सहज स्वभाव का आश्रय करूं तो यह ज्ञानपर्याय, यह विडम्बनाकी पर्याय नष्ट हो सकती है—यह जिसके ध्यान बना उसको भय किस चीजका होगा? ७ प्रकारके भयों का अभाव हो जाता है इस तत्त्वके ध्यानसे। इस ॐ ने बताया कि तुम्हारा सर्वस्व ज्ञायकभाव है ज्ञानभाव है, जो कभी न घटता, न बढ़ता, न कभी नष्ट होता। सदा अन्त:प्रकाशमान है, ऐसे ॐ का जिसे ध्यान जगता है उसको इहलोकभय कैसे होगा? क्या होगा इस लोकमें भय? लोग भय मानते हैं इसमें कि जो चीज हमको मिली वह चीज नष्ट हो जायगी, अलग हो जायगी तो मेरा क्या हाल होगा? पर इस अन्त: स्वरूपके जाननहारको इहलोकका भय नहीं रहता। यहाँ मुझको जानने वाला ही कौन है? मैं अपने आपके स्वरूपमें गुप्त हूं। मेरा नाम नहीं, मेरी शक्ल नहीं, मेरा संकेत नहीं, मेरा चिह्न नहीं तब फिर जिसमें घबड़ाहट हो वह कार्य बन कैसे सकेगा? इस ॐ तत्त्वके ध्यानसे अर्थात् इस सनातन

ज्ञायकस्वरूपकी उपासनासे परलोकका भय नहीं रहता। यहाँ भी यह मैं और जहाँ जाऊँगा वहाँ भी यह मैं, कोई फर्क थोड़े ही पड़ता। मरण करके दूसरी गतिमें जाय तो इसमें इस जीवत्वका कोई फर्क नहीं पड़ता। तो परलोकका भी भय क्या और कष्टका भी भय क्या? जिसने जाना है कि यह ज्ञानस्वरूप तो विकाररहित है, कष्टरहित है उस रूप जो अपने को मानता है, यह हूं मैं उसको वेदना कहाँसे जगेगी? यहाँ ही लोग अनुभव करते हैं कि जब उपयोग बाहर खिचता है, फिरता है तो शरीरमें कोई रोग हो, बाधा हो, वह ज्यादा मालूम होने लगती है और जिसको अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगा है, यह ही हूं मैं उसको वेदना कम हो जाती है और नहीं भी होती है। तो इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके ध्यानसे ये सभी प्रकारके भय दूर हो जाते हैं। मरण मेरा कहाँ? व्यर्थ ही कल्पनायें बनाये हैं, इसमें मेरा परिचय है, लोग मुझे जान जावें और इतना तक मान हो जाना इस पर्याय बुद्धिमें बहुत बढ़कर ईर्ष्या बन बैठती है। इसका यश बहुत ज्यादा चल रहा, मेरा क्यों नहीं चलता? चलें आगे बढ़ें, यह सब पर्यायबुद्धिसे ही प्रेरणा मिलती है। ज्ञानी संतके ऐसी ईर्ष्या नहीं हुआ करती। उसको वेदनाका भय क्या? मरणका भय क्या? आकस्मिक भय भी क्या आयगा? यह अरक्षित कहीं भी नहीं है। यहाँ कैसी भी हालत बीते, पर यह जीव स्वरक्षित है। जो इसका है

सो साथ ज यगा। जो इसका नहीं है वह यहीं पड़ा रह जायगा। इसे भ। नहीं। यों यह ॐ भयहारी है।

२८—ॐ वाच्य अन्तस्तत्त्वकी शाश्वत स्वविहारिता—यह ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्व जो सभी अर्थोंका सारभूत अर्थ है वह निरन्तर अपने आपमें ही विहार करता रहता है। अपने प्रदेशोंको तजकर कहीं भी बाहर नहीं पहुंचता और फिर जो इस ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करते हैं वे अपने ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपको समाये रहते हैं। ऐसा यह अपने आपके प्रदेशोंमें ही विहार करने वाला ॐ जयवन्त होवो, जयवन्त होवो। यह ॐ, यह स्वरूप स्वविहारो है, अपने आपमें ही रहने वाला है। केवल जिन ज्ञानी संतोंने जाना वे इन असार वैभवोंसे विरक्त हो जाते हैं। उनको फिर संसारमें आकर्षित करने वाला कुछ नहीं रहता। ऐसा यह अपने आपमें ही विहार करता हुआ यह विशुद्ध सहज परमात्मतत्त्व है। यह जीव गुणों का पुञ्ज है। व्यवहारनयसे इसमें अनन्त गुण निरखे जाते हैं। तो समझनेके लिए ही जाना जा रहा कि इसमें जाननेकी कला है, देखनेकी कला है, अपने स्वरूपमें मग्न होनेकी कला है, पर परमार्थतः तो यह जीव एकस्वरूप है। अभेद अपने ही प्रदेशमें तन्मय प्रदेश जुदे, गुण जुदे, द्रव्य जुदे, ऐसा स्वतंत्र सत् माननेमें आत्मस्वरूपके स्मरणकी कला नहीं जगती। ये सब बाह्य संग अनर्थ हैं, व्यर्थ हैं, जीवके स्वरूप नहीं हैं। प्रयोजन नहीं हैं। केवल कल्पना ही कर रखी है। मेरे पास इतना वैभव, ऐसा धन, ऐसे जन, ऐसा यश, ऐसी कीर्ति, पर इसका महत्त्व क्या है? जैसे स्वप्नमें सब कुछ देखने वालेने देखा, पर उस देखी हुई चीजका महत्त्व क्या है? बड़े-बड़े राजपाट वैभव सब स्वप्नमें भी दिख जाते हैं। उससे इस जीव को फायदा क्या? ऐसे ही जगते हुएमें ये सब कुछ परिवार मेरे हैं, ऐसा दिख रहा है, और मेरे हैं जब ऐसा निर्णय समाया हुआ है तो उसमें कुछ बाधा आती है तो द्वेष भी जगता है। तो जिसने सत्य ज्ञान किया कि मेरा जो मेरे प्रदेश स्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। उसको कहीं भी भय नहीं रहता। यों यह अन्तस्तत्त्व स्वविहारी है, अपने आपके आत्मामें ही निरन्तर बसने वाला है। जो मुझमें है उसे न देखे तो वह कभी पार नहीं हो सकता। जो मुझमें है वह देखनेमें आये तो इससे बढ़कर और कुछ होनहार नहीं होता। तो समय-समय मनको समझाकर बाह्य पदार्थोंका विकल्प तोड़कर अपनेको अथवा सर्व जीवोंका जैसा स्वरूप है वैसा ही जानकर जो अपनेमें तृप्त होना है वह मुक्तिपदको पाता है।

२९—ॐ की हितकारिताका व भयहारिताका पुनः पुनः अनुमोदन—यह अविकारी अन्तस्तत्त्व हितका करने वाला है, भय हरने वाला है और निरन्तर अपने आपके स्वरूपमें विहार करने वाला है। मगर हितकारी न हो। उसकी जगहपर

अहित करने लगे तो अहितका कौन आदर करेगा ? यद्यपि अहित भी आत्माकी परिणति है; हित भी आत्माकी परिणति है। तो अहितका भी उपादान यह आत्मस्वरूप है और हित का भी उपादान यह ही है, इसलिए इस आत्माको जिसे हम हितकारी समझते हैं अहितकारी भी कह दें तो इसमें कौनसे विरोधकी बात है ? आत्मासे अहितकी पर्याय भी निकलती, हितकी पर्याय भी निकलती, मगर अन्तर क्या आया कि इस ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्माको न जाने तो अहितकी पर्याय निकलती और इस ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्वको जाना तो उसके हितकी पर्याय निकलती। जिसके न जाननेसे अहित हो उसे अहितकारी न कहेंगे, किन्तु जिसके जाननेसे हित हो उसे हितकारी अवश्य कहेंगे। जाने और अपने मनमें श्रद्धान करे, अवश्य ही हित होगा। तो यह ॐ, यह ज्ञायकस्वरूप भगवान सहज परमात्मतत्त्व हितकारी है, अहितकारी नहीं है। मोहियों को तो लगता है ऐसा कि किसीका त्याग, किसीका ध्यान, क्यों ऐसा व्यायाम किया जाय ? आरामसे सब विषय-साधनों में मौज लें। तो यह भोग एक बड़े धोखे का मौज है। संसारमें विषयसाधनोंके प्रति जिन्होंने मौज माननेकी बात रखी है वे तो संसारमें रुलते हैं। जो इनसे विरक्त होता है वह मुक्तिका पात्र बनता है। तो यह ॐ हितकारी है। देखो सर्वत्र अपने आत्मामें अन्तःप्रकाशमान ज्ञायकस्वरूपको

देखनेका प्रयास बना रहे, स्वाध्याय सुन रहे तो भी यही प्रयास और नहीं स्वाध्याय सुनते, ध्यान ही बन रहा तो वहाँ अलौकिक पुरुषार्थ है ही। तो यह ॐ, यह ज्ञायकस्वरूप, यह मेरा सहज परमात्मरूप हितकारी है। अहितकारी नहीं है, भयहारी है। भय बढ़ाने वाला नहीं। मोहियोंको ही भय रहता है। लोग कहते हैं कि गधेको मिश्री मीठी नहीं लगती। शायद होता होगा ऐसा कि शक्कर वगैरा कोई मीठी चीज पड़ी हो उसे न खाता हो। तो भले ही मिश्री गधोंको अप्रिय लगे, उससे कहीं मिश्रीका महत्त्व नहीं घट जाता। वह तो मनुष्योंको एक उपादेय बन रही। तो ऐसे ही यह सहज परमात्मतत्त्वकी वार्ता चर्चा विषयलोलुपी अज्ञानी मोही जनों को न सुहाये तो इससे कहीं अन्तस्तत्त्वका महत्त्व नहीं घट जाता। मोक्षको बनाया तो इस अन्तःस्वरूपने। जो कुछ भी उद्यम करेंगे तो इस अंतःस्वरूपके आश्रयसे ही किया जायगा। ऐसे हे अविकार ॐ जयवन्त हो। जिसमें भयका कहीं भी लेश भी नहीं है।

३०—**गुणदर्शनका महत्त्व**—इस परमात्मआरतीमें गुण दृष्टि ही होती है। तो गुणदृष्टिमें सर्वत्र फिर फिरकर गुण ही गुण दिख रहे हैं। कभी परमेष्ठीके स्वरूपमें गया, कभी रत्न-त्रय धर्ममें गया, कभी सारतत्त्वकी पहिचानमें गया। व्यवहार से चलकर निश्चयसे गुजरकर ज्ञानानुभूतिकी पहिचानकी धुन

में कहा तो यह सब प्रयोग हमारे भयको हरने वाला है और अपने आपमें ही ये सब मिलते जा रहे । अपराध, विवशता, परेशानी तो तब हो जब जो हमें अभीष्ट है वह कहीं बाहर मिलता हो या बाहर खोजना पड़ता हो । मेरा ही स्वरूप भगवान अंतस्तत्त्व है । कितनी भी पराधीनता हो, कितनी भी परिस्थितियाँ खोजी गई हों, लेकिन मेरा सहज स्वरूप मेरेसे अलग त्रिकाल भी नहीं हो सकता । जिसके पदार्थका जो स्वरूप है वह कहीं बदलता नहीं है । तो ऐसा यह निजस्वरूप जिसकी कभी बदल न हो, जो कभी हमसे अलग न हो, उस अंतःस्वरूपका ध्यान, इस ज्ञानस्वरूपका ध्यान ही मेरा हित करने वाला है । ध्यानमें कठिनाई कुछ नहीं । जहाँ हम और पदार्थोंको जानते है तो क्या जानें ? ये सभी बाह्य पदार्थ अहित के ही साधन हैं । तो इन बाहरी पदार्थोंमें उपयोग न दें और अपने आपके अमूर्त ज्ञानस्वभावपर ही दृष्टि रखें तो यदि बाहर में ईमानदारीसे हमारी दृष्टि अपने ही विशुद्ध ज्ञानस्वरूपपर लग जाय तो वहाँ विकल्प नहीं जगता और अनूठा आनन्द उत्पन्न होता है । यही तो मेरा हित है और ऐसा होनेमें ही भय दूर हो जाता है । यों जो ॐ सभी दार्शनिकोंके यहाँ बड़ा महत्त्व रखता है, जिस ॐ में हमारा मार्ग भी लिखा है और मुझमें सदा एकमेक रहने वाला तत्त्व भी लिखा है, ऐसा यह ॐ जयवन्त हो अर्थात् मेरेमें यह ज्ञानप्रकाश प्रकट हो । अव-

गुणकी दृष्टि न जाय, गुणमें ही दृष्टि जाय, अवगुणकी आराधना न बने, गुणकी ही आराधना बने, जैसा मैं देखूँगा वैसा ही बनूँगा । यदि बाहर दोष ही दोष देखता हूं तो मैं भी स्वयं दोषवान बन गया, क्योंकि उपयोगमें दोष विराज गया, और जैसे जो रंग चढ़े उपयोगमें वैसा ही उपयोग बन जाता है । तो हम जहाँ बाहरी पदार्थोंका ज्ञान करते हैं उससे छुट्टी लें और अपने आपके अमूर्त ज्ञानस्वरूपका स्मरण करें तो इसके प्रसादसे हमको सहज आनन्द जगेगा । उस आनन्दलाभ में यह पक्का विश्वास बनेगा कि यह हूं मैं । इस अमूर्त ज्ञानमात्रके सहारे मेरा हित है, मेरी निर्भयता है और मेरेमें पवित्रता है । इसलिए हे ॐ सदा जयवंत होओ ।

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।

३१--अकषाय समरसानन्दमय अन्तस्तत्त्वकी उपासना—ॐ की स्तुतिमें कहा जा रहा है—ॐ के मायने अरहंत भगवान, सिद्ध भगवान, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी और आत्मस्वभाव, आत्मस्वभावकी दृष्टि, रत्नत्रयधर्म, ये सभी ॐ शब्दसे ध्यानमें आ जाते हैं । इन सबकी बात कही जा रही है कि काम क्रोध मद लोभ न माया, अन्तःस्वरूपमें काम क्रोध, मान, माया, लोभ कपट नहीं हैं । दो प्रकारके विकार हुआ करते हैं । एक दर्शनमोह सम्बंधी, दूसरा चारित्रमोह सम्बंधी । इस छंदमें चारित्रमोह सम्बंधी विकारका निषेध करते हुए स्त-

वन है। तो दर्शनमोहके विकारकी बात यहाँ क्यों नहीं की जा रही है? दर्शनमोहके विकारका नाम है मोह अथवा मिथ्यात्व। उसका नाम नहीं लिया और काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट चार कषायें बतायी हैं और एक काम बताया है। सो काम कोई अलग चीज नहीं है। जिसे कहते हैं काम विकार। वह लोभ कषायकी ही पर्याय है। काममें क्या विषयसाधनसे प्रीति? तो चार कषायोंका निषेध किया है। तो जहाँ चारित्र मोहका अभाव बताया है वहाँ दर्शनमोहका अभाव है ही। यह स्वतःसिद्ध होता है। जहाँ थोड़े दोष न हों वहाँ बड़े दोष हैं ही नहीं। यह बात अपने आप सिद्ध होती है। फिर तीसरी बात यों समझिये कि स्तवन कर कौन रहा है? ज्ञानी पुरुष, जिसने मिथ्यात्वको दूर कर दिया वही इस परमात्मतत्त्वका स्तवन कर रहा है। तो स्तवन करते हुए में सब बातें अपने आपपर घटित की जा रही हैं। मोह तो दूर कर ही दिया। अब यह देख रहा है अपनेमें कि यहाँ काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक नहीं हैं। स्वरूप देखा जा रहा है। स्वरूपमें कषायें कहाँ हैं? स्वरूप तो विशुद्ध सहज चैतन्यप्रकाशमात्र है। जो अपने आप हो, स्वभावकी चीज हो, अपनी ही गाँठका तत्त्व हो वहाँ विकार कहाँसे होगा? विकार तो परकी छाया है। तो स्वरूपको देख रहा, यह ज्ञानी संत स्तवनमें कह रहा कि काम क्रोध मद लोभ कपट जहाँ नहीं हैं, ऐसे आत्माका

जयवाद हो रहा। कैसे नहीं हैं जीवमें ये विकार? तो युक्तिसे समझिये, किसी भी पदार्थमें विकार होते हैं तो वे परसंगका निमित्त पाकर ही होते हैं। सर्वत्र यही नियम लगेगा।

३२—निमित्तका द्रव्य क्षेत्र काल भाव प्रभाव उपादानमें जाकर भी निमित्तसान्निध्य बिना उपादानमें विकारकी अनुद्भूति—कहा जाता है कि निमित्त अकिञ्चित्कर होता है। सो बात तो सही है। निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव कुछ भी आत्मामें नहीं है। तो आत्मामें निमित्त कुछ नहीं करता, अकिञ्चित्कर है। निमित्तभूत पदार्थ तो अपने आपमें अपना परिणमन करता है। सो उपादानमें या बाह्यमें निमित्त अपना कुछ देता नहीं, इस कारण अकिञ्चित्कर है, पर साथमें यह भी तो समझना है कि ये विकारमें निमित्त अनिवारित हैं, ऐसा कोई प्रसंग न होगा। कोई घटना नहीं होती कि निमित्तकी अनुपस्थितिमें विकार बन जाता है। तो निमित्त अनिवारित होकर भी अकिञ्चित्कर है और अकिञ्चित्कर होते हुए भी अनिवारित है। जिसको लोग निमित्त कहा करते हैं वह निमित्त नहीं है। दिखने वाले ये पदार्थ, पञ्चेन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ये निमित्त नहीं होते विकारमें। ये तो आश्रयभूत कहलाते हैं। जब कोई प्रकट विकार होता है बुद्धिपूर्वक विकार, वहाँ कोई इन्द्रियका विषयभूत पदार्थ ख्याल में अवश्य रहता है अन्यथा विकारकी मुद्रा नहीं बन सकती।

तो ये दिखने वाले पदार्थ उपचरित निमित्त कहलाते हैं। काल्पनिक निमित्त। कल्पना की, उनमें विकार लगाया कि उनमें निमित्तका आरोप हुआ, किन्तु जो अन्वयव्यतिरेक निमित्त है कर्मका उदय, कर्मके अनुभवका प्रतिफलन आत्मामें होता है तो यह अनिवारित है। अब दोनोंमें से कोई एकान्त कर ले तो वहाँ विवाद खड़ा हो जाता है। कोई यह ही एकान्त कर ले कि निमित्त अकिञ्चित्कर है। निमित्तकी जरूरत नहीं। जब उपादानमें कार्य होता है तो परको निमित्त कहा जाता है, सो भाई यह बात आश्रयभूत पदार्थमें तो घटित होती है, पर कर्मोदय जो अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है उसमें केवल आरोप किया जाता हो और निमित्तत्व कुछ न हो, सो बात नहीं। जैसे आग पड़ी है और उसपर पैर पड़ गए या कागज पड़ गया तो अब जो पैर जल गए, सो वहाँ ऐसा नहीं है कि जब पैर जले तो आगको निमित्त मान लिया। अरे मानो या न मानो, जानो या न जानो, यह तो एक ऐसा प्रसग है कि आगपर पैर पड़ा, कागज पड़ा, घास पड़ा तो वह जल जाता है, इसमें आरोपकी बात कुछ नहीं है और लगाव तो अर्थ इतना ही लगाओ कि जब काम बन गया तो निमित्तकी समझ बनी। समझ बननेकी बात तो ठीक हो सकती है, पर काम बने तो निमित्त बनता है यह बात नहीं बनती। वह तो एक योग है, भूल क्यों जाते हैं लोग कि इस वास्तविकताको नहीं समझते

कि जगतकी सब घटनाओंमें निमित्त और उपादान बस ये दो बातें प्रसंगमें आती हैं, मगर जीवके व्यक्त विकारके प्रसंगमें तीन कारण होते हैं—उपादान, निमित्त और आश्रयभूत।

३३—जीवविकारके प्रसंगमें रहने वाले आश्रयभूत, निमित्त व उपादान इन तीन कारणोंका विवरण—आश्रयभूत को भी लोग निमित्त कहा करते, परन्तु यह है आरोपित निमित्त, कल्पित निमित्त। इनमें उपयोग दें तो ये निमित्त कहलाते, न दें तो नहीं कहलाते, मगर कर्मकी दशा तो आरोपित निमित्त नहीं है, किन्तु जैसी दशा होती है उसके अनुरूप आत्मामें प्रतिफलन होता है। हाँ, अव्यक्त विकारमें तो दो ही कारण आये—(१) उपादान और (२) निमित्त और व्यक्त विकारमें तीन कारण आये—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। तो आश्रयभूत समझमें आता है, जाननेमें आता है, और वहाँ यह बात बनी रहती है कि जब उन पदार्थोंमें उपयोग जोड़ें तो निमित्त कहलाते, सो इस आश्रयभूत पदार्थमें निमित्तके आरोपकी बात जानकर वास्तविक निमित्त में भी यह बात ठानें तो सिद्धान्तविरोध हो जाता है। हाँ तो जब ये काम क्रोधादिक कषायभाव कर्मविपाकका निमित्त पाकर होते हैं तो स्वयं समझमें आ जाता कि ये मेरे स्वरूपमें नहीं हैं। स्वरूपमें होते तो सदा ये विकार बना करते। तो ये विकार मेरे स्वरूपमें नहीं तो बने कैसे कि पुरुषवेद, स्त्रीवेद,

नपुंसकवेद नामक मोहकर्मका तीव्र उदय होनेपर अथवा उदीरणा जगनेपर जो कर्ममें रहने वाले अनुभागका जीवमें प्रतिफलन हुआ वह है नैमित्तिक भाव । यह तो अनिवारित है । अब ज्ञानबल हो जिसमें तो वह ज्ञानबलके प्रसादसे बाहरी पदार्थोंमें उपयोग न जोड़े तो उसके व्यक्त विकार नहीं होता । यों वेदके उदय होनेपर कामभाव बना तो यह नैमित्तिक है, परभाव है, परकी चीज है, मेरेमें नहीं हैं ये विकार ।

३४—अकाम अन्तस्तत्त्वकी आराधना—ज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वको निरखकर कह रहा है कि यहाँ काम नहीं है याने कंदर्पका विकार नहीं है, होकर भी नहीं है । ऐसा देख रहा है ज्ञानी । जैसे जल गर्म हो जाय अग्निका सान्निध्य पाकर तो गर्म होनेपर भी जलमें ठंडे स्वभावको देखता है विवेकी । ऐसे ही कर्मकृत विकार हैं पुद्गल कर्मनिष्पन्न ये दुर्भाव हैं, तिसपर भी ज्ञानी अपने अन्तः भीतर प्रवेश कर अपनेको अविकार निरख रहा है । कैसी समझ है कि जहाँ रंच भी विसम्वाद नहीं । जिसके आत्महितकी भावना होती है उसके विसम्वाद नहीं जगता । हाँ, जिसको कषायका आग्रह है, विसम्वाद उसके ही बनता है । तो क्या निरखा जा रहा है अपने आपके स्वरूपमें कि यहाँ कामविकार नहीं है ।

३५—अक्रोध अन्तस्तत्त्वकी आराधना—अविकार ज्ञानस्वरूपको निरखकर ज्ञानीका निर्णय चल रहा है कि यहाँ

क्रोध भी नहीं है । क्रोध बनता कैसे है ? इसका रहस्य समझनेपर यह समझ सुगमतया बनती है कि मुझमें क्रोध नहीं है । कैसे बनता है क्रोध ? जो पहले क्रोधप्रकृति बँध गई थी, साथ ही उसकी स्थिति अनुभाग भी बँध गया था और कितने प्रदेशमें परमाणुवोंमें बँधे, यह भी बँध गया था । अब उनके निकलनेका समय आया उदय पाकर अथवा उदीरित होकर । तो जब इन कर्मोंके निकलनेका समय आता उस समय अनुभाग खिलता है । जैसे कोई दुष्ट जब संगसे बिछुड़ता है तो बड़ी आपत्ति विडम्बना बनाकर बिछुड़ता है । ऐसे ही ये कर्म बहुत काल तक सत्तामें रहे और अब उदयकाल आया तो उस समय इनमें उस ही प्रकारका अनुभाग खिला, जो बंध क्रोधप्रकृति वाले कर्मनिषेकोंमें क्रोधका अनुभाग खिला । तो वहाँ ही विस्फोट कर्मोंमें हो, झूठे कर्मोंमें हो यह क्रोध न बना, लेकिन कर्म बेचारे अनजान, वे अपने क्रोधका अनुभव भी क्या करें ? सो क्रोध तो प्रकट हुआ कर्ममें, पर उस कर्मविपाकका प्रतिफलन जीवमें हुआ तो चूंकि ये चेतन हैं सो उस प्रतिफलनके सहायक विषयभूत बाह्य पदार्थोंमें उपयोग जोड़ा तो यह क्रोध विकार बना । यों बना यह क्रोध जिसमें बहुत अड़चन है, पराधीनता है ऐसा यह क्रोध विकार मेरे स्वरूपमें नहीं है ।

३६—अगर्व अन्तस्तत्त्वकी उपासना—ज्ञानी पुरुष अपने आपको अविकारी निरख रहा है और प्रभुको अविकारी निरख

रहा है, किसलिए कि अपना अविकार स्वभाव समझमें आये। मेरेमें क्रोध नहीं, मद नहीं, घमंड नहीं, कैसा सरल आत्मतत्त्व जो विशुद्ध जाननहार देखनहार ही रहता है, ऐसे इस विशुद्ध स्वरूपकी सुध न लेनेपर इस जीवकी पर्यायमें बुद्धि अटकती है और चूंकि पर्यायमें जीव नाना तरहके दिख रहे हैं, सो वहाँ ये सब विकार जगते हैं, पर ज्ञानी पुरुष समझ रहा है कि इस स्वरूपमें घमंडका विकार नहीं। जीवस्वरूप जब सबका समान है तो क्यों घमंड हुआ? इस घमंडकी मेरेमें गुंजाइश ही नहीं। सर्व समान है, नीचा-ऊँचा कोई नहीं। स्वरूपको देखो तो सर्व जीवोंमें शाश्वत अंतःप्रकाशमान वही स्वरूप एकेन्द्रियसे लेकर सिद्ध भगवान तक अनवरत रहता है। तो जहाँ सर्व जीवोंमें अपने स्वरूपकी दृष्टि हो वहाँ घमंड कैसे आ सकता? घमंड आता है पर्यायबुद्धिमें। शरीरको निरखकर माने कि यह मैं हूं तो जो मैं हूं उसका अपमान या उसकी तुच्छ दशा कोई नहीं चाहता। तो जब पर्यायको मान लिया कि यह मैं हूं और लोग इस पर्यायको निरखकर कुछ वार्ता करते हैं तो यहाँ इसको मान अपमानका विकल्प जगता है, लेकिन पर्याय तो क्षणिक है, होकर नष्ट हो जाती है। किस पर्यायमें बुद्धि लगाकर अपनेको बरबाद किया जाय?

३७—**क्षणिक परिणतिको अपनानेकी बुद्धिकी व्यर्थता**—देखो जैसे सांप निकल जाय और उस लकीरको जमीनको कोई पीटे तो उस प्रकारके अभिप्राय वाले लोग उसे नादानसा कहते हैं। जो हिंसक जन हैं वे वहाँ क्या चर्चा करते, उसके बारेमें वे तो नादान ही कहते हैं। तो यह तो है उन लोगोंकी बात। यहाँ यह ही बात गुजर रही है, कषाय जगी, समागम मिला तो क्षणिक है, निकल गया। अब यह अपना उपयोग उसमें जोड़कर अपने तो व्यर्थ दुःखी करता है। जब पर्याय हुई तब यह जीव उसे विकल्पमें न ला सका। और जब विकल्पमें ला रहा तो वह पर्याय नहीं रह पाती। तो इस मूढ़का यही तो हाल है कि जैसे सांप निकल गया, लाठी मार रहा जमीनपर, तो जैसे लौकिक मूढ़ोंका यह हाल है, ऐसे ही यहाँ परमार्थ मूढ़ोंका यह हाल चल रहा। परिणति हुई तब तो यह जीव विकल्प न कर सका, क्योंकि उपयोग लगनेमें छद्मस्थोंको अन्तर्मुहूर्त समय लगता है। जो शुद्ध निर्दोष उत्कृष्ट केवलज्ञानी पुरुष हैं भगवान आत्मा, उनको अन्तर्मुहूर्त नहीं लगता किसी पदार्थका निर्णय करनेमें। वहाँ एक ही समयमें उस ही समयमें रहने वाले समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान हो जाता है, लेकिन छद्मस्थ जनोंका उपयोग किसी पदार्थकी समझ बनानेके लिए अन्तर्मुहूर्त तक उपयोग लगाये रहता है तब उसका निर्णय बनता है, सो बनता है और उसके बारेमें सही जानकारी चलती है, लेकिन वह ऐसा ही है कि विषय पर्याय तो निकल गई जिसका कि विकल्प करते, विचार करते, अब वे विकल्प विचार निराश्रय हैं वर्तमानमें। कल्पनासे तो जग रहा, यह हालत है हम

आपकी, जिस पर कि लोग घमंड बगराते हैं, और यहाँ घमंडकी कोई गुंजाइश ही नहीं है। तो यह मद, यह गर्व, यह मान कषायका प्रतिबिम्ब है और उसे इस जीवने अपनाया तो यह प्रकट दुःखी होता है। जीवमें मान कषाय नहीं है। जीव तो आनन्दस्वरूप है, निर्विकल्प है, सहज प्रतिभासमात्र है, सर्व कर्मक्रियावोंसे रहित है। उसमें विकारका प्रवेश कहाँ? हो रहा है, पर ज्ञानी यह निरख रहा कि मेरे स्वरूपकी चीज नहीं। यह तो निमित्त पाकर छाया हुई। नैमित्तिक भावमें प्रीति नहीं रहती। यह घमंड नैमित्तिक है। यह मेरे स्वरूप की चीज नहीं। घमंड भी नैमित्तिक है।

३८—अन्तस्तत्त्वकी उपासनामें अविकार स्वभावके दर्शन की आकांक्षा—तृष्णाका रंग। कहाँ है इस जीवके स्वरूपमें रंग? ज्ञानस्वरूप है, जानता ही रहे, बस यहाँ ऐसी ही ख्याति चलती है। विकारका वहाँ नाम नहीं। ये तो सब औपाधिक भाव हैं, अनिवारित भाव हैं। वैसे विकल्प यहाँ होने ही पड़ते हैं। आश्रयभूय पदार्थोंमें चित्त लगाये तो व्यक्त बनता है और न लगे तो अव्यक्त रहता है। देखो आश्रयभूत और निमित्त दोनोंका क्षेत्र जुदा है, प्रभाव जुदा है। एक प्रसिद्ध घटना कहते हैं कि कोई वेश्या गुजर गई तो उसे जलानेके लिए लोग मरघट लिए जा रहे थे। उस मृतक शरीरको देखकर मुनि महाराजने यह विचार किया कि देखो कैसा दुर्लभ मानव जन्म पाया और इसे यों ही व्यर्थ गंवा दिया। एक कामी पुरुष जिससे उसका परिचय था उसके यह भाव जगा कि यह वेश्या अगर कुछ दिन और जीवित रहती तो हम अपना और मौज रखते। तो अब इन दोनोंमें विचार कर लो कि वह मृतक देह यदि वास्तविक निमित्त है भाव बननेका तो दोनोंका एकसा भाव बनता। निमित्त तो दोनोंका है वही एक, पर भाव जुदे-जुदे क्यों बने? एक ही मृतक देहको देखना? तो उससे यह सिद्ध होता है कि वह मृतक शरीर निमित्त नहीं है। वह तो विषयभूत है। ज्ञानमें आया, उपयोगने उसे देखा, समझा। वास्तविक निमित्त तो है मुनि महाराजके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और अनन्तानुबंधी कषायका उपशम, क्षयोपशम और अनुदय। ऐसी स्थितिमें मुनि महाराजके मंद कषाय रहती, रागकी ओर भाव नहीं जाता। उस कामी पुरुषके सभी कषायोंका तीव्र अनुभाग है, मोहका उदय है, उसका निमित्त पाकर उस मृतक देहको देखकर ऐसा दुर्भाव जगा। तो वास्तविक निमित्त तो अनिवारित है और उसीका प्रतिफलन है। वही है यह विकार, यह भाव। तो यह मेरे स्वरूप में नहीं है, घटनामें बन जाता है। पर मैं अपने आपकी ओर से अपने ही स्वभावमें विशुद्ध निर्मूल हूं। यों ज्ञानी संत तक रहा कि मेरेमें काम क्रोध घमंड आदिका विकार नहीं है।

३९—परिच्छेद व अन्ययोगव्यवच्छेदसे परमात्मतत्त्वका

निर्णय—परमात्मतत्त्वकी आरतीमें परमात्माका स्वरूप, सहज परमात्मतत्त्वका स्वरूप निषेध और विधि दोनों तरहसे कहा जा रहा है। निषेध तो बताया है कि काम, क्रोध, मद, लोभ, माया आदिक इस आत्मतत्त्वमें नहीं हैं। प्रकट भी नहीं, पर्याय में भी नहीं, और हम आपके स्वभावमें नहीं। हम आपकी रक्षा स्वभावदृष्टिसे है। बाहरमें कुछ भी सोचा, कहीं भी जावें, कुछ भी राग बनावें, शान्ति कहीं न मिलेगी। परमें शान्ति है कहाँ? बाह्य पदार्थका जितना सम्पर्क है, लगाव है, यह अशान्तिका कारण है, कर्मबन्धनका कारण है। इससे निर्णय सही रखो, भैया! जितना बने सो करो, पर निर्णय सही रखो कि मेरे आत्माका जो सहजस्वरूप है उस रूपमें अपनेको मानूं कि यह मैं हूं, अगर यह दृष्टि बन गई है तब तो खैर है, शांति मिलेगी, भविष्य भी सुधरेगा और एक अपने इस स्वरूपका पता नहीं है तो पुण्योदयमें कुछ भी मिल जाय उससे पूरा नहीं पड़नेका और संसारमें सुख और दुःखका जोड़ा है। सुख है तो यहाँ दुःख भी है। दुःख है तो कोई क्षण सुख भी है, क्योंकि सुख मिला तो सुख तो यही तो रहा कि बाह्य पदार्थ में कुछसे कुछ माना मानें, मेरेको यह तरक्की हो, इतना वैभव मिला, ऐसा मेरा ठाठ, यह मेरी चीज ऐसा सोचनेमें ही तो सुख होता है। तो जहाँ परपदार्थके बारेमें कुछ सोचकर सुख माना तो परपदार्थ तो हमारे अधिकारमें है नहीं कि मैं

जैसा चाहूं वैसा ही परपदार्थ रहे। वे बिगड़ेंगे, उनकी परिणति और और होती, बस दुःख मिलेगा।

४०—स्वरूपानुपलब्धिमें सर्वत्र दुःखका वेदन—संसारमें सुख है तो दुःख भी और दुःख है तो दुःख है ही। वह कैसे? है तो सर्वत्र, दुःख ही दुःख। सुखका तो नाम ही नहीं, मगर बहुत दुःख हो और उपयोग बदलनेसे दुःख कम हो जाय तो उसीको लोग सुख समझते हैं। जैसे १०२ डिग्री किसीके बुखार है और रह जाय १०० डिग्री और कोई मित्र आकर पूछे—कहो भाई कैसी तबियत है? तो वह कहता है कि अब तो ठीक हैं, चैन है, शान्ति है।....अरे भाई कहाँ ठीक है? अभी तो दो डिग्री बुखार बना है। मगर जितनी अशान्ति पहले थी उतनी अब न रही, इससे चैन मान लिया। ऐसे ही समझो कि यहाँ संसारमें सुखका तो नाम नहीं कि कुछ सुख हो, शान्ति हो। पहले ज्यादा दुःख महसूस कर लिया, अब कुछ दुःख कम हो गया तो उसे सुख समझते। तो यह संसारी जीव तो आत्माका उद्धार हो कि मेरा तो मेरा सहजस्वरूप ज्ञानमात्र चैतन्यज्योति वह ही मैं हूं, अन्य कुछ मैं नहीं, और मेरा जो यह निजस्वरूप है सो ही मेरी चीज है, अन्य कुछ जगमेंभी चीरो नहीं। यह निर्णय बनेगा तो जगसे पार होंगे, शान्ति मिलेगी, कर्म कटेंगे, आनन्द जगेगा। और इसकी सुध न रखें और बाहरी पदार्थोंके मिलनेमें अपनी कुछ कल्पना

बनाये तो संसारहवमें रुलेगा । तो आत्माका स्वरूप क्या है ? मैं क्या हूं, इसके निर्णयपर ही सारा भविष्यका प्रोग्राम बनता है । मेरेमें विकार नहीं । जैसे इस दरी पर, चौकीपर छाया नहीं, इसका स्वरूप कहां है छाया, और इसका स्वरूप कहां है प्रकाश ? बिजली जली तो प्रकाश अवस्था बन गई, हाथ आड़े आया तो छाया अवस्था हो गई । तो इसके स्वरूपमें तो कुछ नहीं । जैसा सम्पर्क मिला, उपाधि मिली वैसा विकार जगा । ऐसे ही मुझ आत्मामें काम क्रोधादिक कोई भी विकार नहीं, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं । जानने जाननेका ही काम करता हूं, पर उपाधि आयी सामने, कौनसी उपाधि ? पहले बांधे हुए कर्म अब उदयमें आये, बस विकार जगा, ये विकार परभाव हैं, मेरी चीज नहीं, मुझमें ये विकार नहीं ।

४१—अलोभ अन्तस्तत्त्वकी उपासना—मुझमें, ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें लोभकषाय नहीं है । लोभकषाय इतनी विकट कठिन कषाय है कि इस रंगमें रंगा हुआ यह प्राणी अपने आपको समझ यहीं सकता कि मैं क्या हूं, और व्यर्थका लोभ । लोभ किसलिए करते कि धन जुड़ जायगा । पहले तो यह ही बतलाओ कि धन जोड़कर क्या फायदा पावोगे ? लोग जोड़ते हैं बड़े लखपति, करोड़पति सब दिखते हैं और उनको देखकर लोग ललचाते भी हैं, ऐसा क्यों नहीं बना ? ऐसा बनना चाहिए । तो व्यर्थ है ललचाना भी और धनका जोड़ना

भी । धन जोड़कर आत्माको कौनसा लाभ है ? पहले लौकिक दृष्टिसे ही सोच लो । कोई कहेगा कि दसों आदमियोंमें आगे बैठाकर दसों आदमी स्वागत करेंगे ? तो पहले तो यह बताओ कि वे दसों लोग कौन हैं ? उसके प्रभु हैं क्या ? भगवान हैं क्या ? और कब तक साथी हैं ? कितनी जगहके लिए साथी हैं ? सारा लोक असंख्यात योजनका है । उसमें यह परिचित दुनिया समुद्रमें बिन्दु जितनी है । इतनेमें अगर कुछ स्वप्न जैसा बन गया समारोह तो इससे इस आत्माको क्या लाभ मिल जायगा ? अनन्त जीवोंमें से अगर कुछ स्वार्थी लोगोंने प्रशंसा कर दी तो उससे लाभ क्या ? रईसोंके भी गुण गाते हैं तो स्वार्थी जन ही तो गाते हैं तो उससे उस रईसको कौन सा लाभ मिल गया, बल्कि इस थोड़ेसे जल्सेसे उसका सारा जीवन दुःखमय हो गया । अनेक विकल्प चलते हैं, कल्पनायें चलती हैं, दुःखी रहता है, सैंकड़ों उपद्रव हैं और फिर आखिर मरण होगा, छोड़ना तो पड़ेगा, फिर इसका कौन साथी होगा ? ये सब व्यर्थकी बातें हैं । इसमें तो यह निर्णय रखें कि उदयानुसार जो आये सो अच्छा । हम तो उसे भी जरूरतसे ज्यादा समझते हैं । उसका उपयोग करें उदार बनकर दुःखियोंके उपकारमें, धर्महित । यदि परिणाम निर्मल रहेंगे तो यह आगे मदद देगा । और यदि परिणामोंमें मलिनता रहे, लोभ रहे तो ऐसा विकट बन्धन होता है कि आगे इसको कष्ट ही मिलेगा ।

लोभसे किसी भी प्रकारका लाभ नहीं, और लोभ करनेसे धन जुड़ता भी नहीं। बहुतसे उदाहरण देखे होंगे। लोभ करते जाते, अचानक मिट जाता, और जो लोभ नहीं करते, उदार-चित्त रहते उनको कभी घाटा भी नहीं। ये बाहरी पदार्थ हैं, यह लोभ इस आत्माके हितके लिए नहीं, और यह हमारे स्व-भावमें भी नहीं। लोभ कषाय प्रवृत्ति जो बांध ली गई थी उसका उदय आया, ऐसा परिणाम बना, विकार जगा। यह मेरा स्वरूप नहीं। लोभ न करें तो भला हो जाय। यह लोभ ही शब्द बताता है—लोभका उल्टा भलो। इस लोभसे उल्टा चलो तो भलो। ऐसा शब्दमें ही भरा है, प्रवृत्तिमें भी भला हो जायगा। इस जीवमें लोभ विकार नहीं है। परमात्मामें नहीं है, मेरे स्वरूपमें नहीं है, ये सब नैमित्तिक हैं, परभाव हैं।

४२—**अमाय अन्तस्तत्त्वकी उपासना**—अन्तस्तत्त्वमें माया नहीं, छल कपट भी नहीं। ये सब कर्मोदयके विकार हैं। जीवके स्वभावमें कपट नहीं, यह तो सरल है, चैतन्य-ज्योतिस्वरूप है, प्रकाशमात्र है। इसमें मायाका काम नहीं। माया लोभसे जुड़ी हुई होती है और क्रोध मानसे जुड़ा हुआ होता है। जहाँ मान जगा वहाँ क्रोध होता है, लेकिन क्रोध में बुद्धि कभी व्यवस्थित नहीं रहती। किसी भी स्थितिमें क्रोधभाव आये ही नहीं मुझमें, ऐसा प्रयास बनायें, क्योंकि

उसमें कोई लाभ नहीं। दूसरा अन्याय कर रहा तब भी क्रोध करना ठीक नहीं, दूसरा ठीक चल रहा तब तो क्रोध करना ही क्यों? किसी भी स्थितिमें क्रोध न करना। घर-गृहस्थी है, कोई उपद्रव कर रहा तो उसका उपाय तो बना लेवें, मगर क्रोध भाव चित्तमें न लायें। क्रोधसे बिगाड़ ही होगा। वहाँ सुधारकी आशा नहीं है। तो क्रोध न आये उसके लिए मान खत्म करना चाहिए। इसी प्रकार मायाचार न जगे, छल कपटमें भाव न बने, इसके लिए लोभका त्याग करना चाहिए। अगर लोभका भाव है तो छल कपटका भी वहाँ उद्गम है। तो लोभ भी भला नहीं, माया भी भली नहीं और माया है क्या? जगतमें जो कुछ दिख रहा वह सब माया है। क्या दिख रहा? ये स्कंध। ये क्या यथार्थ हैं, माया हैं? अनेक पुद्गल परमाणुवोंका पुञ्ज बनकर यह रूप बना है। ये सब कुछ एक-एक नहीं हैं। ये सब यथार्थ द्रव्य नहीं हैं। यह मिल जुल करके एक माया बनी है। तो माया, या मा जो यह है वह रमने योग्य नहीं है, क्योंकि सब कुछ नश्वर चीज है। तो जहाँ कषायभाव नहीं, ऐसा यह परमात्मस्वरूप है।

४३—**समरसानंद अंतस्तत्त्वकी उपासना**—समरस सुख-धारी। समरस, समताका रस, यह ही हुआ एक उत्तम सुख। इसका धारण करने वाला है भगवान, और यह सहज ज्ञानस्व-रूप। समरस कहाँ जगता है? जहाँ समता है याने जहाँ रागद्वेष

नहीं। रागद्वेष न हों इसके लिए देखो अपने स्वरूपको कि स्वरूपमें रागद्वेष होता ही नहीं है। ये सब छायाकी तरह हैं। कोई परपदार्थ सामने है, उपाधि है, कर्मोदय है, और ये रागद्वेषकी कल्पनायें बनीं। जहां रागद्वेष नहीं वहाँ ही समता है। भाव बनायें कि हे प्रभु, मेरे कब समताभाव प्रकट हो? समता भाव होता है तब जब सर्व परिग्रहोंका त्याग बने अन्यथा तरंग उठेगी रागकी, द्वेषकी। तो सर्व परिग्रहके त्यागके मायने निर्ग्रन्थ दशा। श्रावक वही है, जैन वही है, जिसके चित्तमें यह भाव बनता हो कि यह सब झंझट है। इससे अलग हटकर कब मैं निर्ग्रन्थ होकर अपने समताका स्वाद लूं, यह भावना अगर चित्तमें है तो समझो कि हम श्रावक हैं, जैन हैं, उपासक हैं। जैसे काम बनता उसी ढंगसे ही तो बनेगा काम। तो अपने-अपने हृदयको टटोलो कि मेरे प्रोग्राममें क्या यह है कि मैं कब परिग्रहरहित होकर निर्ग्रन्थ होकर शरीरका भी मोह छोड़कर मैं अपने ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें ही रहूं। यह भाव अगर नहीं जग रहा तो वहां जैनत्व नहीं, श्रावकपना नहीं। भले ही नाम जैन भी होते, स्थापना जैन भी होते, मगर भावोंसे जैन नहीं हो सकते। जो वास्तविक जैन है वह कभी दुःखी रह नहीं सकता, क्योंकि वह तो जानता है कि सर्व बाह्य चीजें हैं, मेरे स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं। जिस जीवका जैसा जो कुछ है उसके अनुसार उसका होता है, उसमें

मेरा क्या दखल और उससे मेरेको क्या कष्ट? कष्ट किसी दूसरेसे नहीं होता, किन्तु दूसरेमें जो लगाव लगा है, वह लगाव कष्टका कारण है। अब यह तो सब अपना-अपना ही अनुभव किया जा सकता है कि हम लोभ रखकर गृहस्थीमें रहते हैं या परिस्थितिवश घरमें रहते हैं? परिस्थितिवश रहे उसमें उसको कष्ट नहीं होता और लोभ रखकर रहे तो उसमें कष्ट होना प्राकृतिक बात है। परमें लगाव है तो वहां कष्टका परिणाम अवश्य होता। तो जहां मोह नहीं, घमंड नहीं, क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं, वहां समताका रस जगता है, और ऐसे समयके आनन्दका मैं स्वामी हूं, समरसानन्दस्वभाव वाला हूं।

४४—अपनी सम्हालमें सारी सम्हाल—अपनेको सम्हालूं तो सब काम बन जायगा। परको सम्हालते हुए तो अनन्तकाल बीत गया, पर किसी भी परको न सम्हाल सके। खुद भी न सम्हल सके, व्यर्थमें अनन्त काल गया। जिस-जिस भवमें जन्मे, जो-जो मिला, सभी भवोंमें उस मिलेकी सम्हालमें लगे, पर वे न मिल सके, न मिल सके। वे सब भी मिट गए, उनका भी वियोग हुआ और यह खुद भी न सम्हला जो अब तक दुःखी चला आ रहा है। तो अब समझ लो कि अपने आपकी सम्हालका कितना महत्त्व है? और सम्हाल भी क्या? एकदम यह निर्णय बना लें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञान सिवाय

मेरा कुछ नहीं है। ऐसी भीतरमें अगर श्रद्धा बन जाय तो दुःख न होगा। सबके ज्ञाता द्रष्टा रहें। मेरा यह परमात्मस्वरूप यह सहज परमात्मतत्त्व समसुखका धारी है।

ध्यान तुम्हारा पावन सकल क्लेशहारी।

४५—**अविकार अन्तस्तत्त्वके ध्यानकी सकलक्लेशहारिता**—हे प्रभो! जहाँ कषाय नहीं, जहाँ समता भरपूर है, ऐसे स्वरूपका जो ध्यान करता है उसके कोई कष्ट नहीं रहता। समस्त कष्टोंका हरने वाला है इस प्रभुताका ध्यान। जब उस स्वरूपमें उतरें नहीं, उस स्वरूपको जानें नहीं तो ऊपरी-ऊपरी बातसी मालूम पड़ती है कि यह तो जिनवाणीका रिवाज है कि ऐसा कहना चाहिए कि भगवानका कुछ ध्यान करो, संसार के संकट दूर हों, यह तो एक रिवाज है, ऐसा सोचते हैं। और जिसने अपने स्वरूपका अनुभव किया उसको स्पष्ट रहता है कि इस विविक्त ज्योतिर्मय आत्मस्वरूपका ध्यान हो तो वहाँ कष्ट रहता नहीं। कष्ट किसका नाम है? विकल्पका नाम है कष्ट, क्योंकि बाहरी पदार्थ हैं। कुछ भी बिगड़ जाय तो उसका परिणमन है, हो गया, उससे मेरा क्या लगाव? मैं ऐसा काम क्यों न करूँ कि जिससे अगला भव भी धार्मिक वातावरणका मिले और वहाँ धार्मिक लाभ लेकर यथाशीघ्र मुक्ति पाऊँ, ऐसा प्रोग्राम बनायें तो बुद्धिमानी है, और बातोंमें बुद्धिमानी नहीं या एक बार माता चिरोंजाबाई जी से गुरु

गणेशप्रसादजी के प्रति किसीने शिकायत की कि बाई जी यह तुम्हारा भैया तो सब जगह ठगकर आता है। सामान खरीदनेमें किसीसे भाव-ताव तो कुछ पूछता नहीं, बस जिसने जितने दाम कह दिए वह उतने ही देकर चला आता है। तो बाईजी ने उत्तर दिया था कि मेरा भैया ठग जाता है तो ठग जाने दो, उसका तो हम इलाज कर लेंगे, पर यह बताओ कि मेरा भैया किसी दूसरेको ठगता तो नहीं है? अगर ठग गए, कुछ ज्यादा पैसे चले गए तो उससे हम कुछ नुक्सान नहीं समझती। हाँ, अगर यह किसी दूसरेको ठगे तो चूंकि उसका भाव मलिन है तब ही तो ठगता है। तो भावोंमें मलिनता आना यह बुरापन है। तो आत्माका जो स्वरूप है सहज ज्ञान ज्योति उसका कोई ध्यान करे, उसमें अपना चित्त लगाये, तो भले ही लोग कहें कि यह कुछ नहीं करता, व्यापारमें भी चित्त नहीं देता, कुछ भी कहें, मगर यह ठगा नहीं। और केवल अपनी ही सम्हाल छोड़ दी और बाहरमें चाहे कितना ही दिमाग लगाये, व्यापार करे, पैसा कमाके जोड़े, वह ठगना ही है। ठग गया। तो ये सब बाहरी बातें एक कर्मानुसार जानकर उनमें इतना चित्त नहीं देना है। चित्त देना है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके पालनमें। और यह रत्नत्रय धर्म तब ही तो बनेगा जब अपना बोध हो। आत्मस्वरूपके बोधके लिए तन, मन, धन, वचन, प्राण सर्वस्व

न्योछावर हो और एक आत्माका ज्ञान मिले तो उसने सब कुछ पाया।

४६—ज्ञानमात्र अविकार अन्तस्तत्त्व की आराधनामें सकल क्लेशोंका विनाश—कैसा यह आत्मा है ? ज्ञानमात्र। भीतर देखो रूप न मिलेगा, रस, गंध, स्पर्श न होगा। यह किसीको टकराया नहीं। यह तो अमूर्त है, ज्ञानमात्र है। एक प्रतिभासात्मक पदार्थ है। यह बनावट नहीं है। यह इसका स्वरूप ही है ऐसा। तो ऐसे ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लें, ध्यानमें लें, जो अपने अनुभवके द्वारा ही समझमें आता है। वचन तो बस वचन ही हैं। अब आत्माके स्वरूपको कहने वाले वचनोंको सुनकर यह खुद अपने आपमें ज्ञान-कला लाये तब ही तो लाभ है। वचनोंसे लाभ तो नहीं हुआ। वचन तो बाह्य साधन हैं। करना तो खुदको ही पड़ेगा। तो यह सहज आत्मस्वरूप अपने ही ज्ञानके द्वारा गम्य है। यह स्वरूप अपनेमें ही है और इसका ध्यान भी अपनेमें ही उत्पन्न होता है। यह ध्यान पावन है, पवित्र है। उपयोगमें क्या-क्या बातें नहीं बसी रहा करती हैं ? कहाँ कहाँ चित्त नहीं जाता ? कहाँ कहाँ यह लगाव लगाये फिरता ? सो दूसरे तो समझते हैं दूसरेके लगावको, दूसरे लोग दूसरेकी गल्ती जल्दी समझ जाते। कैसा मोह कर रहा, क्यों राग कर रहा ? क्या पड़ी है इसे ? अपनेको भूल रहा, दूसरेके लिए मर रहा, सो दूसरेका

मोह, दूसरेका राग इसकी समझमें जल्दी आ जाता, पर खुद का मोह, खुदका राग समझमें तो क्या आये, उसीको करनेमें अपनी चतुराई समझता है। मैं बहुत चतुराईका काम कर रहा हूं, घर सम्हाल रहा हूं, घर चला रहा हूं, शासन कर रहा हूं, मैं बहुत चतुराई कर रहा हूं। तो अज्ञानी मोही तो इन ही सांसारिक व्यवस्थाओंमें सर्वस्व चतुराई समझते हैं और ज्ञानी भी करता। उतना काम ज्ञानी भी करता है घरमें रह-कर जितना कि कोई अज्ञानी करता है, मगर दृष्टि सुलझ जाने से बहुत अन्तर हो जाता है। यह तो परिस्थितिवश करना पड़ रहा है। घरमें रहता है तो इतना तो करना ही चाहिए। बात समझकर करता है और मोही तो यह ही मेरा सर्वस्व है, उसपर जान न्यौछावर जैसी करके करता है, और देखो मरना भी सबको पड़ता है। अज्ञानी भी इस भवको छोड़ेगा और ज्ञानी भी छोड़ेगा, पर ज्ञानी तो निजस्वरूप चित्तमें रखता हुआ यहाँसे जायगा, उसे वेदना नहीं होती और अज्ञानी यह ही सोच-सोचकर रहेगा कि मैंने इतना कमाया इतना जोड़ा, ऐसा-ऐसा श्रम किया, पर अब सब कुछ छोड़कर जाना पड़ रहा। अज्ञानीकी मौतके समय जो कुछ गुजरता है उसके चित्तमें, उस कष्टका कोई बयान नहीं कर सकता। कैसा कष्टसे मरता है अज्ञानी पुरुष ? तो मरना भी सबको पड़ेगा, तो भली मौत क्यों न मरा जाय, जिससे कि आगे भी कुछ लाभ ही

तो होगा और मोहसे मरे, रोकर मरे, सोचकर मरे, फिक्रमें तो इसको दुःख उठाना पड़ेगा। तो इस आत्मस्वरूपका, परमात्मस्वरूपका यह पवित्र ध्यान ही समस्त संकटोंको हरने वाला है। ध्यान बनायें? कैसे बने? जब ध्यानमें अपने आपका स्वरूप समाया हो, उसका ज्ञान करें।

आत्मदृष्टिमें आत्मस्वरूपका दर्शन—अपनी दृष्टिमें क्षणभरमें ही यह सारा आत्मस्वरूप सर्वस्व प्रतिभासमें आ जाता है। अगर किसी नदीके किनारे खड़े हों और वहां जितने रेतके दाने बाहरमें दिख रहे, क्या उनको कोई गिन-गिनकर अलग-अलग सोचकर जान रहा? अरे आँखें खोलीं और सारी रेत ज्ञान थेमें आ गई। तपोंरपदार्थ हैं और यह स्व आत्मा तो स्व ही है। ज्ञान द्वारा जानना है और स्वयंको ही जानना है तो ज्ञानदृष्टि आये यहाँ तो क्या यह सर्वस्व आत्मा सब समझमें न आयगा? आयगा, मगर इसमें बाधक है विकल्प। परपदार्थके ख्याल ये इसमें बाधायें डालते हैं। तो वह मिटेगा तो ज्ञानसे मिटेगा, और ज्ञान ही हम आपका शरण है। ज्ञान सिवाय हम आपका कोई रक्षक नहीं है। तो उस ज्ञानस्वरूपका आदर करें, अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवमें लें। मैं और कुछ नहीं हूं। ज्ञानीके यह तपश्चरण सहज ही बन जाता है कि वह विषयके साधनोंको न करके मौज नहीं मानता। जैसे जिसको फांसी लगाई जा रही, तख्तपर चढ़ा दिया उसको लोग

पूछते हैं कि बोलो तुम जो खाना चाहो सो खा लो, रसगुल्ले, पेड़ा, इमरती आदि जो कुछ खाना चाहो सो बतलावो, तो वह पुरुष उनके खानेमें मौज मानेगा क्या? नहीं मानेगा, क्योंकि वह तो जान रहा कि अब तो हम मरने वाले हैं। हमारे प्राण जा रहे हैं, फांसी लग रही है, उसे रसगुल्ला आदि कोई मिठाई देखकर खुशी होगी—क्या? तो जैसे उसे खुशी नहीं हो सकती, इसी प्रकार ज्ञानी जानता है कि यह सब विडम्बना है, इन आपत्तियोंमें पड़ा हूं, ये जन्ममरणके चक्र बड़े भयंकर हैं, इनमें ही अनादिकालसे चला आया हूं, इनमें ही फंसा हूं और इनमें ही रहूंगा तो उसमें मेरा विघात है। क्या उसमें मोह जगेगा? जिसमें ज्ञान है उसको वैराग्य नियमसे होता है। ज्ञान और वैराग्यका जोड़ा है। भले ही कुछ कर्मप्रकृतिका उदय है जिससे वह पूर्ण विरक्त नहीं हो पाता, मगर जिसके ज्ञान है उसको वैराग्य नियमसे होता ही है। यह जगत रमने लायक नहीं, यह राग मोह करने लायक नहीं। अगर इन विपत्तियोंमें बहुत-बहुत पड़ेंगे तो भव-भव जन्ममरणमें व्यतीत होगा। यहांकी चीजोंको केवल जानें, देखें, उनमें लगाव मत लगावें, अपना सर्वस्व उन्हें मत समझें, उससे विरक्त हों और अपने आत्मके ध्यानमें ज्यादा समय जाय तो संसारके सारे संकट हमारे दूर हो सकते हैं।

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भवसंतति टारी।

४८—स्वभावमय अन्तस्तत्त्वकी आराधनासे भवसंततिका विनाश—परमात्म-आरतीमें दो परमतत्त्वोंका ध्यान किया गया है । एक तो जो वीतराग सर्वज्ञ हो गए हैं, ऐसे परमात्मा अरहंत और सिद्धके स्वरूपका, दूसरे जिस स्वभावका आश्रय करके योगी पुरुष अरहंत बनते हैं, सिद्ध होते हैं उस सहज स्वभावका लक्ष्य किया है । और इन दो बातोंका हमारे हितके लिए सम्बन्ध है । साक्षात् बतायें तो अपने आपके सहजस्वभाव का आश्रय करना है । इस प्रकार जहाँ विकल्प न हो, तरंग न हो, राग नहीं, चिन्ता नहीं, विकार नहीं, ऐसी पद्धतिसे अपने आपके सहजस्वभावका आश्रय लेना, ज्ञानमें अपना सहज स्वरूप रहना, इस कामको करना सरल भी है और कठिन भी है । जिसकी दृष्टिमें आया उसको सरल है, जिसकी दृष्टिमें न आ सका, किन्तु कुछ अंदाज हुआ है कि हमको इस स्वभावका आश्रय करना चाहिए, क्योंकि बाहरके विषयके विकल्पोंसे पिट चुके ना ? तो कुछ भाव जगता है और कुछ इस स्वभाव को उपयोगमें लेनेका प्रयास करता है, उसके लिए कुछ कष्टसा होता है । जैसे कि अक्सर सभी लोग जो धर्मप्रेमी हैं । एक शिकायत रखते हैं कि हम चाहते तो बहुत हैं कि ज्ञानमें ही मग्न हो जायें । सब उपद्रव छूट जायें, मोहका दुःख, रागका दुःख, द्वेषका दुःख, ये सब न भोगने पड़ेंगे, फिर मैं अपने स्वरूपमें मग्न हो जाऊँ, पर हो नहीं पाते । कुछ थोड़ा भी सफल

नहीं हो पाते । तो इस तरहके दुःख तो कठिन हैं । तब ऐसे पुरुषोंको जिनको कि स्वभावका आश्रय कठिन है, परमार्थ तत्त्वके अनुभवमें जो नहीं हैं उन पुरुषोंको यह चाहिए कि यह स्वभाव जिसके प्रकट हो चुका है, ऐसे परमात्मस्वरूपकी आराधना करें । तो दो आराध्य हैं—परमात्मप्रभु और निज सहज स्वभाव । जिसे यों कहो—कार्यसमयसार और कारणसमयसार । जहाँ स्वभाव प्रकट हो गया है, पर्यायमें भी स्वभावका विकास है, वह कहलाता है स्वभावमय । हे स्वभावमय अथवा स्वभाव ही स्वभावमय है । सो निजमें स्वभावकी दृष्टि की जा रही है, जिन पुरुषोंने इसको पहिचाना है, अनुभवा है उन्होंने भवकी संततिको काट दिया ।

४९—राग द्वेष भावोंकी भवसंततिरूपता—भवकी संतति कहलाती है मोह राग द्वेष जिन विकारपरिणामोंके कारण संसार बढ़ता है, भव बढ़ता है वह ही भवसंतति कहलाती है । तो जिन भव्य जीवोंने इस सहजस्वभावको पहिचाना, उन्होंने भवकी संतति दूर कर दिया । पहिचाननेमें क्या समझे ? यह सहजस्वभाव । यह तो सहज है, सहज, जबसे मैं हूं तबसे ही यह साथ है । मैंने इसे नहीं पहिचाना, नहीं देखा, सो यह उपयोगकी त्रुटि तो रही, मगर यह सहजपरमात्मतत्त्व तो सदा अन्तःप्रकाशमान रहा । जिसका रक्षक, जिसका परमपिता, जिसका शरण अन्तरंग बना हुआ है और

वह भी दःखी हो रहा है। तो यही तो एक गजबकी बात है। जिसे कहते हैं—पानीमें मीन पियासी। कैसा है वह स्वभाव, वह सहज परमात्मतत्त्व? कारणसमयसार सहज है, और सहज क्या? कोई दूसरेमें नहीं है, स्वयं स्वयंको नहीं पहिचानता तो उसका कितना बड़ा दण्ड। नरक निगोद, तिर्यञ्च, चतुर्गतिमें भ्रमण। नाना तरहके विकल्प, और कैसे-कैसे कष्ट? जो फिजूल पाया, व्यर्थ पा रहे। कोई हिसाब नहीं है कि ये कष्ट आना चाहिए इस जीवको, पर अपनी कमजोरी त्रुटि, कुछ सहज ज्ञानरूप अपनेको नहीं अनुभव पाते और यह विडम्बना बन जाती है। तो यह स्वयं है। जिससे मिलना है, जिसमें रत होना है, जिसका शरण गहना है वह बाहर नहीं। यह तो खुद ही है। खुद ही खुदमें पैठत जायें। इस स्वस्थितिके प्रसादसे भवसंतति सदाके लिये टल जावेगी।

५०—खुदको ही जानने देखनेमें खुद ही में रमनेमें अनंत समृद्धिका विकास—शक्ति अनन्त मिले न मिले, प्रभु खुद ही खुदमें पैठत जायें—ऐसा एक भजनमें कहा है। मुझे मुक्ति मिले या न मिले, मैं प्रभु आपसे यह नहीं मांगने आया, पर मैं यह चाहता हूं कि राग और द्वेषकी ज्वालासे अपना पिण्ड छुटा लूं। ज्ञान मुझको अनन्त मिले या न मिले, मैं केवलज्ञान नहीं चाहता ऐसा कि तीन लोक व अलोक प्रतिभासित हों, हमें इससे मतलब नहीं। न जाननेमें आये कुछ तो क्या?

जाननेमें आये तो क्या? मैं अनन्त ज्ञान नहीं चाहता प्रभु! मैं तो यह चाहता हूं कि यह मैं खुद ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानस्वरूपको ही जानता रहूं। अनन्तदर्शन भी नहीं चाहता। हमें क्या प्रयोजन कि सर्वपदार्थोंका दर्शन हो। हां यह जरूर चाहता हूं कि मेरेको मेरे सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन रहे। मैं अनन्त सुख भी नहीं चाहता। मुझे अनन्त सुख मिले इसकी तृष्णा नहीं, पर इतना चाहता हूं कि मेरा आकुलताका संताप दूर हो जाय। शक्ति (अनन्तवीर्य) भी मैं अनन्त नहीं चाहता, पर इतना चाहता हूं कि यह मैं खुद खुदमें पैठ जाऊं, मग्न हो जाऊं। खुदको खुदमें डांटना भी एक बड़ा बल कहलाता है। जैसे कमजोर आदमी अपने देहके भीतरका नाक, थूक, लार, मल, मूत्र आदिकको डांट नहीं सकता। तो इस मल-मूत्रादिकको भी डांटे रहनेके लिए शारीरिक बल चाहिए, तो मैं खुद खुदमें बैठ जाऊं, यह तो कोई आत्मबलसे साध्य है, इतना तो बल चाहता हूं। भले ही चाहा हमने खुदमें खुदका ही तथ्य, अब उसके फलमें केवलज्ञान मिले, जबरदस्ती मिले तो क्या हम मना करें? अनन्त सुख मिले, अनन्तशक्ति मिले, परमें जो इतनी तृष्णा है इसका विलय करके स्वयंका अनुभव चाहता हूं। मैं तो खुदमें ही खुदका कुछ चाहता हूं। तो यह स्वभाव क्या है? वह स्वयं है और गुप्त है। इसे कोई दूसरा नहीं पहिचान सकता। आत्मप्रवाद, ज्ञानप्रवाद पूर्व जैसे

महान आगमका भी ज्ञान हो और कहो अपनेको न पहिचाना हो, न अनुभवा हो तो चेष्टाओंसे क्या परिचय मिलेगा कि तुमने अपनेको जाना ? फिर भी लोग अनुमान तो चेष्टासे ही करेंगे। किन्तु वह इतना गुप्त है कि वह किसी चिन्हके द्वारा पकड़में नहीं आ सकता। वह स्वभाव जिसका आश्रय लेनेसे मुक्ति प्राप्त होती है वह स्वरूप मेरेमें होकर भी नहीं जाना गया। बस यही तो एक विडम्बना रही। अब पहिचाना और उस ही को एकमात्र शरण्य समझा। तो गुप्त होकर भी भीतर में तो प्रकट है ही, दूसरोंके लिए गुप्त है। जैसे सन्दूकमें जो चीज रखी है वह दूसरोंके लिए गुप्त है और जो चीज है उस ही के लिए क्या गुप्त है ? संदूक इसीका ही तो नाम है। सम मायने भली प्रकारसे दुक मायने दुकाई (छिपाई) जा सके चीज उसका नाम है संदूक। सम दूक) तो यह ऐसा संदूक है कि बाहरके लोग न जान सकें कि इसमें क्या है और यह खुद खुदमें ही पड़ा हुआ अपने आपको समझ सकता है। तो यह स्वभाव गुप्त है और उस गुप्त स्वभावके दर्शनकी विधि भी गुप्त है और उसका दर्शन भी गुप्त है। बाहरी लोगोंको कुछ दिखाना नहीं है, दिखाया नहीं जा सकता और कल्पनामें दिखाता है यह जीव। तो उस दिखानेका कुछ यहां तत्त्व नहीं निकलता। खुद ही खुदको जानें, समझें, खुद ही में बैठें, मग्न हों।

५१—असीम आत्मत्वका अनुभव—यह स्वभाव गुप्त है। जो स्वभाव प्रकट हुआ है वह गुप्त है, उस स्वभावकी सीमा नहीं। अच्छा आत्माकी तो सीमा है और स्वभावकी सीमा नहीं, इसका क्या अर्थ ? आत्मा जिस देहमें रहता है उस देह के प्रमाणमें है, उससे आगे आत्मा नहीं और स्वभाव आत्माको छोड़कर अन्यत्र है नहीं। प्रदेशमें ही है और आत्मा व्यापक है, स्वभाव व्याप्य है। फिर स्वभावको तो बताया जाय असीम और आत्मा बन रहा है ससीम, यह कैसा गजब ? गजब कुछ नहीं। जब तक चित्तमें सीमा है अपनी तब तक उसने स्वभाव नहीं जाना। निर्विकल्प ही नहीं हो सक रहा। और जब स्वभावको जानेंगे, स्वभावको जानते हैं तो स्वभाव की सीमा नहीं। वहाँ तो अनुभव है, अनुभवमें जो स्व भाव है उसकी सीमा नहीं होती। सीमा हुई कि स्वभाव न रहा ज्ञानमें, आत्मा एक वस्तु प्रदेशरूपमें रह गया मात्र। अनुभवसे भी समझ सकते हैं कि जब ज्ञानमें सहज ज्ञानस्वरूप आया है तो वहाँ आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, कालकी सुध नहीं है। और वहाँ भी कोई ध्यान करने वाला पुरुष, जैसे इतना ध्यान रखा कि मैं मन्दिरमें बैठा हूं उसको स्वानुभूति न होगी। अब रात है, दिन है, सुबह है, कुछ समयका भी ध्यान होगा तो स्वानुभूति न होगी। इसी प्रकार आत्मपिण्डका भी ध्यान होगा। मैं आत्मा हूं, असंख्यातप्रदेशी हूं, इतने विस्तारमें हूं, ऐसा जो

एक पिण्डको ध्यानमें रखेगा वहाँ भी स्वानुभूति नहीं । केवल एक सहज ज्ञानस्वभाव अनुभवमें हो तो स्वानुभूति है । तो जब यह स्वभाव अनुभवमें है तब क्या हद है उसके उपयोगमें कि मैं इतना बड़ा हूं । इसलिए वह स्वभाव अनन्त है । अनुभवमें अनन्त, कालसे अनन्त, पर यह तो सब एक औपाधिक विशेषण है । स्वयं स्वभाव जब अनुभवमें आता है तो उससे सीमा नहीं रहती ।

५२—अज असंयुक्त नियत आत्मस्वभावकी आराधनाका स्मरण—वह स्वभाव उत्पन्न नहीं होता, अज है । किसी परसे मिला हुआ नहीं है । अपने आपको जितना केवल निरखनेमें बढ़ते जायेंगे आपको परमार्थका उतना ही अधिकाधिक परिचय चलता रहेगा । मोहियोंसे निर्मोहकी पद्धति उल्टा हुआ करती है । मोही तो अपनेको सब सहित समझे तो उसमें चैन मानता है, पर चैन नहीं है, निरन्तर व्यग्रता ही है और निर्मोह पुरुष सबसे भिन्न केवल अपनेको अकेला ही निरखता है तो यह स्वभाव संयोगसे रहित है, केवल अपने स्वरूपमात्र है । जिसके स्वभावको प्रकट करके सिद्ध भगवन्त हुए हैं वह स्वभाव परसंयोगसे रहित है । उस स्वभावमें कोई विशेषता ही नहीं । साधारण सामान्य एक चैतन्यप्रतिभास । विशेष कल्पना आये तो स्वानुभव नहीं बनता । तो यह स्वभाव विशेषरहित है,

एक सामान्य प्रतिभासमात्र है । जो मैं हूं सो ही हूं । जो मैं हूं सो ही था । जो मैं हूं सो ही होगा । स्वभाव परखनेकी रीति अपनेको केवल केवल ही अनुभव करना है, ऐसा यह स्वभाव नियत है । निगोदमें रहा, न कुछसा ज्ञान । कर्म पड़नेका बंधन रहा, फिर भी स्वभाव अपनेमें वहीका वही नियत है । आत्मा कभी अचेतन नहीं बन सकता । वह तो वहीका वही है । वह अपनेसे विरुद्ध कुछ भी दूसरा नहीं हो सकता । यह स्वभाव न किसीसे बँधा हुआ है, न किसीसे छुवा हुआ है । असहजकी दृष्टिमें ही विकल्प आते, दुःख महसूस होता, अच्छा बुरा भी समझमें आता, पर यह सहजस्वभावकी दृष्टि हुए बाद जान लो यह सदा वहीका वही रहना, कभी अन्य नहीं होता । अनन्य है, वह छुवा किसीसे नहीं, बँधा किसीमें नहीं । यह ही मेरा प्रयोजन है, यह ही प्रयोजक है, यह ही देवता है, यही मेरा परम शरण है । जब एक मूल बातको भूल जाते हैं लोग तो उससे जो एक सम्बंध बढ़ा, रूढ़ि बनी, लोग उसको तो समझते हैं वास्तविक है और जिस आधारसे बनी रूढ़ि वह दृष्टिमें नहीं रहता । वह आधार हूं मैं । मेरे समस्त कार्योंका प्रयोजक है यह मैं ही आत्मतत्त्व । सो ही परमार्थ है, सो ही सत्य है, सो ही सहज है, ऐसे इस स्वभावको जिन्होंने पहिचाना उन्होंने भवकी संततिको टाल दिया । और ऐसा ही स्वभाव विशुद्ध जिसके प्रकट हुआ, अरहंत सिद्ध परमात्मतत्त्व वही है एक

निरपेक्ष स्वभाव । यह कहलाता है भूतार्थ ।

५३—चैतन्यतत्त्वकी दृष्टिके प्रतापसे भवसंततिका विनाश— इस चैतन्यतत्त्वको जिन्होंने पहिचाना उन्होंने रागद्वेष मोहपर विजय प्राप्त की । जैसे भंवरमें पड़ी हुई नैयाको खेने वाला कितना ही जोर लगाये, उस भंवरमें से वह नहीं निकल पाता । तो चतुर नाविक यह निगाह रखता है कि इस भंवरका कोई ऐसा ढंग बने स्वयं कि जहाँसे मार्ग मिले और यह नौका पार हो जाय । ऐसा ही कुछ जोर देनेसे या कुछ बनावट करनेसे सजावट करनेसे कहीं इस कारणसमयसार प्रभुकी भेंट नहीं होती । यह तो धीरतासे, गम्भीरतासे, अपने आपके स्वरूपके मननके प्रतापसे स्वयं ही ठीक हो जाता है । प्रयास करें, स्वयं अनुभव बनेगा । स्वयं ही तो कठिनाई मालूम होगी और स्वयं ही उसका समाधान मिलेगा, पर उस ज्ञानस्वरूपकी उपासनाके लिए हम अपना पौरुष तो बनायें । एक ऐसा ही चुटकुला गुरु जी सुनाते थे कि किसी बाबूने एक कुम्हारको पायजामा इनाम में दिया । वह पायजामा पाकर बड़ा खुश हुआ । अब जब उसका उपयोग करने लगा तो पता था नहीं उस भोले आदमी को कि यह कहाँ पहननेकी चीज है ? सो उसने पहले सिरमें डाला, वहाँ फिट न बैठा तो फिर हाथोंमें डाला, वहाँ भी फिट न बैठा, फिर कमरमें लपेटकर देखा तो वहाँ भी सही न बैठा, ऐसा ही करते-करते एक बार एक पैर भी डाल दिया, फिर

दूसरा भी पैर डाल दिया तो उसके फिट बैठ गया । वह बड़ा खुश हुआ । उसकी समझमें आ गया कि यह यहाँ पहननेकी चीज है । तो कुछ कोशिश करें इस आत्मस्वरूपको जाननेकी, माननेकी, अनुभवनेकी तो इसका दर्शन होगा क्यों नहीं ? यह स्वभाव जिसको पहिचाने तो भवसंतति टले । संसारके सारे दुःख सदाके लिए मिट जायें । ऐसी पद्धतिसे हम अपने आपके सहजस्वरूपका ध्यान करना है । वह अपनेमें ही उत्पन्न है, अपनेसे ही ज्ञात है, ऐसा यह स्वभाव जिनके प्रकट हुआ है, उस परमात्माको जिन्होंने पहिचाना है वे संकटोंसे दूर हो जाते हैं । ऐसा स्वभावमय हे प्रभु ! जिन्होंने तुमको पहिचाना है, चीन्हा है उन्होंने भवसंतति टाल दी । शरीरोंका मिलते रहना टाल दिया । मोही जन ही खुश होते हैं—मेरेको शरीर मिला । ज्ञानी जन जानते हैं कि मैं तो वैसाका ही वैसा बंधनमें रहा । तो जिन्होंने पहिचाना उनको तो भवरहित दिख रहा है स्वभाव । विकार लदे हैं, मगर विकारके नीचे मूलमें सहज विकाररहित अपने सहजस्वरूपको देख रहा ज्ञानी, ऐसा जिसने अपने आपके देवताको पहिचाना बस वह प्रभु बनता है । वह ही दुःखोंसे दूर होता है । इसके लिए बहुत बड़ा बलिदान चाहिए । जिसमें मोह है, जिसमें राग है उसका विकल्प तोड़ना होगा । यथार्थ बात जाननेमें आये तो विकल्प टूटनेमें विलम्ब नहीं होता । निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहि

लेश निदान ॥ इतना ही तो करनेकी चीज है। ऐसा इस परमात्म-आरतीमें इस सहजस्वभाव परमात्मतत्त्वको सम्बोध रहे हैं और इसी अन्तस्तत्त्वकी आराधना कर रहे हैं। उस आराधनामें जो लौकिक आनन्द मिलता है उस आनन्दको भोगने वाले ही यह कह सकते हैं यथार्थ कि हे स्वभावमय जिन तुमि चीना भवसंतति टारी।

५४—बाहर शरणका अभाव—इस जीवको शरण बाहरमें कहीं कुछ भी नहीं है। क्यों नहीं है कि एक तो सब परद्रव्य हैं, उनकी परिणतिसे हमारी परिणति नहीं लगी। उनका किसी भी प्रकारसे कोई सम्बन्ध है नहीं। हम ही खुद उनके बारेमें विचार कर-करके अपना सम्बंध मानते हैं। वस्तुतः मेरे आत्माका सम्बंध देहसे भी नहीं है, रह रहा है देह में, पर देह भिन्न है, मैं निराला हूं। इस ही कारणसे बाहरमें कोई भी पदार्थ मेरेको शरण नहीं। इस मायामयी दुनियामें इन बाहरी वैभवोंका ख्याल कर-करके यह मौज मानता है जीव, सो इस मौजके साथ दुःख भी लगा है। जिसका सबके अनुभव है, जितना मौज माना जाता उससे अधिक दुःखके प्रसंग आते, और मौजमें भी दुःख है। जहाँ रागभाव जग रहा है, मौजमें राग ही तो होता है। तो उसमें क्या खैर है अपनेको ? अंधकार है। अपने भगवानकी सुध भूल रहे हैं, बाह्य बाह्यमें अटक गए हैं। तो यह तो एक विडम्बना है। मौजमें भी आकुलता है और दुःखमें भी आकुलता है। और

मौज और क्लेश जब होते हैं तब किसी न किसी परपदार्थका विचार है तब होता है। इस कारण बाह्यमें मेरेको कुछ भी शरण नहीं। तो शरण क्या है ? मेरा जो आत्मस्वभाव है, अपनी ही सत्ताके कारण अपने आपमें जो भवन होता है, जो परिणाम है वह सहजस्वरूप, उसकी दृष्टि मेरेको शरण है। जब भी शान्ति मिलेगी तो अपने आपके स्वरूपमें समा जानेसे मिलेगी। इससे बाहर रहें तो शान्ति नहीं मिल सकती। तो ऐसा जो अन्तःस्वरूप है उसकी सुध रहे तो संसारका संकट मिटता है और इसे भूल जाय तो संसारमें भटकना पड़ता है। संसारमें भटकने वाले ये सभी जीव अपना उपयोग बाहर लगाये हुए हैं। सभीकी यह हालत है। असंज्ञी जीव तो अत्यंत विवश हैं, मन ही नहीं है तो उनकी परकी ओर लगा ही रहता है उपयोग, परन्तु जो संज्ञी हैं, मन वाले हैं, हित अहित का विचार कर सकते हैं और उनमें भी श्रेष्ठ मनुष्य तो इतना सुयोग पाया, फिर भी यह मनुष्य मोहमें अपनी सुध भूलता है और बाहर-बाहरमें ही यह हिसाब लगाये रहता है। बाहरमें इतना लाभ है तो मेरा लाभ है। बाहरमें इतना नुक्सान है तो मेरा नुक्सान है। बस यह बुद्धि है, इसलिए इस जीवको कष्ट है। कितने ही उपाय कर लो कष्ट नहीं मिटता, जब तक निराकुल चैतन्यस्वरूपकी सुध न जगे। अब जब सभी लोग एक विषयोंके वाञ्छक हैं, यशके लोभमें दौड़ लगाये फिरते

हैं। उन्हींमें रहते हैं तो इसको भी इच्छा हो जाती है। पर मोही जगतमें जो-जो कुछ हो रहा है वह सब एक स्वप्नवत् है। स्वप्नमें सब कुछ देखा और है कुछ भी नहीं। स्वप्नमें तो नहीं समझ पाता कि है कुछ नहीं। जगनेपर ही समझता है कि है कुछ नहीं। स्वप्न स्वप्न ही है। ऐसे ही जब तक अज्ञान है, पर्यायमें आत्मबुद्धि है तब तक यह जीव सुख मानता, द्वेष मानता, ऐसा ही व्यवहार बनाये रहता है, क्योंकि अज्ञान है और जिस समय ज्ञान जगता है तब मालूम होता है—ओह अनन्तकाल तो हमने यों ही मोहमें गंवाया। था कुछ नहीं मेरा। जैसे जिस भवसे यहाँ आये हैं, आखिर पहले भवको छोड़कर ही तो आये हैं। उस भवमें जो-जो कुछ मिला होगा, मिला तो जरूर होगा, जो भी मिला था उसका यहां क्या सम्बंध? सम्पर्क ही नहीं, ख्याल भी नहीं दौड़ता। तो जैसे पहले भवोंके समागम मेरे कुछ न थे—यह ध्यानमें बैठ जाता है, ऐसे ही वर्तमानमें मिले हुए समागमोंमें यह ध्यान बैठ जाय कि यह मेरा कुछ नहीं है, मैं अकेला चैतन्यस्वरूप-मात्र अंतस्तत्त्व हूं, यह दृष्टि जहाँ हो वहाँ आकुलताका क्या काम? पर ऐसा मोह-मदिरा पी रखी है लोगोंने कि अपनी कुछ सुध ही नही रखते, और बाहरमें हिसाब बनाते कि मेरे इतने बच्चे हैं, ऐसी सामर्थ्य है, इतनी आय है, इतना यश है, लोग हमको पूछते हैं, ऐसा बाहरमें हिसाब लगाये तो उसको

शान्ति नहीं मिलती।

५५—कुबुद्धि न जगाकर सुबुद्धिसे मेल करनेमें कल्याण— हिसाब देखें अपना भीतरमें। कुबुद्धि न जगे। सबसे बड़ी भारी सम्पदा है कुबुद्धि न जगे। कुमति तब जगती है जब किसी परपदार्थमें अपना लगाव बनता है, लोभ जगता है, मोह रहता है, कुबुद्धि बनती है, तो जहाँ कुबुद्धि है वहाँ जगतका सब जंजाल है। इन कुबुद्धियोंको पैदा किसने किया? मोहने। इसलिए मोह तो विपदा है और कुबुद्धि मोहकी पुत्री है, और माया, लोभ सब इसके संगी हैं, साथी हैं। वास्तवमें सुमति वहाँ है जहाँ यह समस्त स्पष्ट बोध है कि मैं सर्ववैभवोंसे, देहसे, विचारोंसे पृथक् एक ज्ञानमात्र तत्त्व हूं, जिसका पहिचानने वाला यहां कोई नहीं है। जो पहिचानता है वह सम्यग्दृष्टि है, और जितने लोग व्यवहार करते हैं वे मुझको नहीं जानते। इस देहको, पुद्गलको, पिण्डको ही ये सब कुछ समझते हैं, और ये मोही जीव ये अपनेमें हिसाब लगाये हैं कि मुझको इतने लोग देख रहे हैं, इतने लोग जानते हैं, इनमें हमें रहना है, शानसे रहना चाहिए। पद-पदपर अपमान महसूस करते हैं। उन पुरुषोंके कुबुद्धि छायी है। जहाँ कुबुद्धि है वहाँ ७ व्यसन भी लग जाते हैं कोई न कोई रूपमें। बड़े रूपमें हो जाय तो उसका नाम व्यसन है। छोटे रूपमें हो तो उसे लोग व्यसन नहीं कहते, मगर हार-जीतमें हर्ष-विषाद होना, कोई

बातमें हार-जीतका विकल्प रखना—मैंने कहा सो ठीक, इसने जो कहा वह ठीक नहीं रहता है। मेरी बात सबके सिरताज रहे, अगर इतनी बात चित्तमें है तो वह जुवाका ही तो अंश है। वह प्रकट जुवा है। जुवामें भी क्या होता है? हार-जीत की दृष्टि, और उसमें हानि-लाभ मानना तो यह जीव भी अपने विचारसे इतना चिपटा हुआ है कि जो मैं सोचता हूं सो सही है और इसे लोग मान लें। अगर हमारी बात लोग स्वीकार कर लें तो इसमें हमारी जीत है, कोई न कोई अंशमें लगा ही तो है। तो ऐसे कुछ व्यसन ये कुबुद्धिके भाई हैं। "जहाँ कुमति वहाँ विपति निधाना" और कुबुद्धि बनती है इस चैतन्य महाप्रभुकी सुध छोड़ देनेसे। मैं क्या हूं, इस बातके निर्णयपर सारा भविष्य निर्भर है। पर्यायमें मान लिया कि यह मैं हूं, बस इसको आकुलता ही रहेगी। और जहाँ अपने आत्मस्वरूपमें अनुभव किया कि यह मैं हूं, बस वहाँ आकुलता दूर होने लगेगी।

५६—अहंके निर्णयपर भविष्यकी निर्भरता—लाख बात की बात एक यह ही बात है कि अपनेको जैसा मानता हो उसके अनुसार उसको सुख दुःख है। मूल बात यहाँसे चलती है। पर्यायमें आत्मबुद्धि है तो उसको जरूर क्लेश है और इस पर्यायको अपनानेसे दूसरोंको भी अपनाना है। यह मेरा है, वह जो लड़का है यह गैर है, यह अमुक है, अरे मेरा कोई

जगतमें है क्या? और मेरा कुछ भी नहीं तो गैर कैसे किसे कहूं? गैर तो तब प्रयोग होता जब कुछ बिना गैरके मानता हो। गैरके बिना गैर सम्पर्क है। तो मेरा जगतमें कुछ भी नहीं है। केवल एक मैं ही एक परमात्मतत्त्व हूं। इसकी जो सुध भूल गया और बाहरमें उपयोग फंसा दिया तो ये जीव संसारमें संकट सहते। तुव भूलत भव भटकत, अगर शरीर पसंद है, अपने शरीरमें मोह है और यह रुचि बनी है कि ऐसा ही शरीर मुझको मिलता रहे तो उसका उपाय है कि ऐसा ही शरीरको मानें कि यह मैं हूं, शरीर मिलते रहें, यह ही तो संकट है। शरीर न हो तो एक भी दुःख है क्या? जीव जैसा है अपने स्वरूपमें वैसा अकेला ही रहे तो इसपर क्या संकट? सारे दुःख इस देह बन्धनसे लगे हैं। भूख प्यास, ठंड गर्मी, सम्मान अपमान, और इस लोकमें लालचकी कोई सीमा तो है नहीं। कुछ बड़े हो गए, एम. एल. ए. हो गए, एम. पी. होना चाहते, मिनिष्टर होना बाकी है, फिर संयुक्त-राष्ट्रसंघके कुछ बनना चाहते और उसके बननेके बाद भी कुछ न कुछ उमंग रहती है। तो तृष्णाकी हद नहीं है और उस ही तृष्णाके रंगमें इस जीवको दुःखी होना पड़ता और इस ही के आधारपर क्रोध भी आता, मन भी होता, माया भी होती। तो अपना सारा भविष्य कैसे गुजरे, यह बात इसपर निर्भर है कि हम अपनेको वैसा मानें कि मैं क्या हूं? यदि

यह मानें कि मैं एक चैतन्यज्योति हूं, मेरा इस जगतमें पहिचानने वाला कोई नहीं, मेरा अपयश भी नहीं, निन्दा भी नहीं होती, मैं तो अनिन्य स्वरूप हूं। इस चैतन्यस्वरूपको निन्दाका क्या काम? तो ऐसा अपने आपका अनुभव हो तो वहाँ संसारके संकट नहीं आते। और जहाँ इस चैतन्यस्वरूपको भूल गए तो उसका यह फल होगा ही कि बाह्य पदार्थोंको अपनायेगा तो उसको कष्ट ही कष्ट है। बड़ी विपत्ति सहनी पड़ती है किसी परको अपनानेसे।

५७—विकल्पोंसे सतत क्लेशका अनुभव—जरा अपने जीवनसे अनुभव बनावो। जब बच्चे थे—४-६ वर्षके थे तो उसको क्या फिक्र थी? खिलानेको माँ-बाप मनायें, जरा-जरा सी फिक्र रखें, खुद कष्ट सहें, पर बच्चेको कष्ट नहीं सहने दिया। तो थे सुखी बचपनमें, मगर बचपनमें भी कुछ न कुछ कल्पनायें करके दुःख मानते रहे। बचपन दुःखमें गुजरा। कोई बात मनकी न हुई उसीमें ही बहुत कष्ट माना और मनके करनेसे इसको कुछ मिलता नहीं। एक-दो पैसेके खिलौनोंको देखकर ही मन कर गया कि यह लेना है और उसकी माँ नहीं लेती तो देखो न भूखका दुःख है, न प्यासका, न ठंड गर्मीका दुःख है, बस मेरी बात नहीं चली, इसका दुःख है। बच्चे तक भी ऐसा मान कषायसे दुःखी रहते हैं। तो यह सब परिणाम किस बातका कि हमने अपने स्वरूपकी दृष्टि

छोड़ी और बाह्य समागमोंमें यह मैं हूं, यह मेरा है ऐसी बुद्धि बनायी। उसका फल है कि संसारमें भटकते रहते हैं। प्रभुको भूलते, अपने स्वरूपको भूल जाते, यह है कुबुद्धिको आमंत्रित करना। सो यह कुबुद्धि जगजालके बन्धनमें फंसा देती है। जहाँ पदार्थ भिन्न-भिन्न देखा, किसी पदार्थका किसीसे सम्बंध नहीं, सब अपने-अपने परिणमनमें हैं। मेरेको यहाँ कोई खम्भा गाड़कर जाना नहीं, कुछ दिनको यहाँ इस भवमें हैं, फिर न रहे तो मेरे लिए यहाँकी क्या चीज रही? सबसे बड़ी विपत्ति है इस जीवपर कि अपने स्वरूपपरमात्माको भूल गया। ऐसा जो भूलेगा भटकेगा वह बड़ी विपत्तिमें रहेगा। जिससे हमको दुःख होता उससे ही हम प्रीति करते रहते, यह है इतिहास इस जीवका। इन्द्रियके विषयोंसे सम्बंध रखनेमें आकुलता ही है, मगर विषयसाधन जोड़कर यह अपनेको खुश समझता है।

५८—कार्यसमयसार व कारणसमयसारको भूलसे भवभ्रमण—परमात्म-आरतीमें दो बातोंपर ध्यान दिया है। एक तो अरहंत सिद्ध जो निर्दोष परमात्मा पद पा चुके हैं और एक उस ही के समान अपना निज स्वरूप, बस ये दो ध्यानमें देने की बातें हैं। बाह्य वैभव तो पुण्यानुसार मिलता है और पुण्य बनता है सद्विचारसे। इसलिए कोई भी स्थिति आये, कष्टसे घबड़ाना नहीं और अपनेमें अपने सद्विचार रखना। तुव भूलत भव भटकत, एक निगाहमें, एक दृष्टिमें अपना स्वरूप

सर्वस्व आ गया। अब उसकी उपासनासे जो अलौकिक आनन्द पाया उसका स्मरण करते हुए यह जीव कहता है—तुव भूलत भव भटकत। आज मनुष्य हैं और मरकर एकदम मानो कीड़े बन गए तो कैसा गजबका काम है यह कि मनुष्यसे कैसा कीड़ा बन गया। कैसे ऐसा निर्माण बना कि दो मिनट पहले मनुष्य थे, अब कीड़ा कहलाते। इतनी बड़ी आपत्ति, इतनी बड़ी विडम्बना जो हो रही है जीवको, उसका कारण है कि अपने चैतन्य महाप्रभुको भूल गया। सो हे प्रभु तुम्हारे भूलनेसे भव-भवमें यह जीव भटकता है, और जहाँ अपनेको भूला वहाँ वचनोंसे न कहा जाय, ऐसी विपत्ति भोगनी पड़ती है। नरकमें दूसरा नारकी देखकर तुरन्त उसके तिल-तिल बराबर देहके टुकड़े कर देता है, मगर पापका इतना तीव्र उदय है कि नारकियोंके शरीरके टुकड़े तिल-तिल बराबर हो जायें, फिर भी वे जुड़ते हैं और वहीं वैक्रियक शरीर उनके तुरन्त प्रकट हो जाता है। कैसा नरकोंमें क्लेश, तिर्यञ्चोंमें, पशु-पक्षियोंमें कितना क्लेश? जरा कामका न रहा ढंगर, गाय हो, भैंस हो, बैल हो, बूढ़ा होकर झट जाकर कसाईखानेमें मशीनके नीचे गर्दन रख देते हैं। वे बेचारे पशु बेकसूर मारे जाते हैं और निरन्तर जब चाहे पिटना, डंडे लगना—यह तो सब उनका मानो इनाम ही है। तो तिर्यञ्चमें भी कहाँ सुख है? देवोंमें भी कहाँ सुख है? जहाँ यह एक पुरुषको अपनेसे ज्यादा धनी

पुरुषको देखकर ऐसा लगता है कि यह बड़ा सुखी है, उसकी चाल-ढाल, पहनावा-ओढ़ावा, यश-प्रतिष्ठा आदिको देखकर लगता है कि यह बहुत सुखी है। मगर जो जितना बड़ा है, जिसका जितना बड़ा वैभव है उसके लगावमें वह कैसा दुःखी है सो उसका वही जाने। और खुद अपने आपमें पहिचान लें कि हम कैसी कल्पनायें कर-करके अपनेको दुःखी मानते हैं। तो मनुष्योंमें भी जैसे दुःखी हैं, देवोंमें भी दुःखी हैं और मनुष्योंमें तो प्रकट दुःख इस जीवको ज्ञात है। तो ऐसे बड़े-दुःख सहने पड़ते हैं उस जीवको जो अपने स्वरूपको भूल गया और बाहरी पदार्थोंमें अपने लाभ नुकसानका हिसाब लगा रहा है। उससे बढ़कर गरीब कोई नहीं कहलाता। बाहरी पुद्गल मिल गए तो उससे कुछ अमीरी नहीं, वह तो गरीब है। उसे संतोष है, धर्ममें बुद्धि लगाये है तो वह गरीब गरीब नहीं, किन्तु अमीर है, और कोई अमीर है और आत्माकी, भगवानकी सुध छोड़ बैठा है तो वह गरीब है। जो अपने स्वरूपकी सुध रखता सो अमीर। जो अपने स्वरूपकी सुध नष्ट कर देता सो गरीब। बाहरी पदार्थोंसे अमीरी और गरीबी नहीं है, सो इस प्रभुको न भूलें। अपने स्वरूपकी याद बनाये रखें, विजय होगी, मुक्तिके पात्र होंगे, सो इस चैतन्य महाप्रभु जो अपने अन्दर ही ज्योतिरूप प्रकाशमान है उसकी सुध रखें तो दुःख मिटें और उसकी सुध भूलें तो इस दुःखमयी संसारमें जन्म-

मरण करते हुए भटकते रहना पड़ेगा।

परसम्बंध बंध दुःख कारण।

५९—परसम्बंधकी बन्धरूपता व दुःखकारणरूपता—परपदार्थका सम्बंध बन्धन है और वह ही दुःखका कारण है। अब परपदार्थमें क्या-क्या बातें आयी? जो प्रकट भिन्न हैं—मकान, धन, वैभव, इनका सम्बंध अर्थात् इनके प्रति अपने उपयोगका लगाव, यह एक बंधन है। जैसे गाय जिसने अपना बछड़ा जाया हो, दो-तीन दिनका बछड़ा है, अब उस गायको घर ले जाना है तो गायको बाँधनेकी जरूरत नहीं पड़ती। बस बछड़ेको गोदमें लेकर आगे-आगे भागते जावो, गाय अपने आप पीछे चली आयगी तो वह बन्धन किस बातका है? देखने में तो कोई बंधन नहीं, बछड़ा अलग है, गाय अलग है, लेकिन बछड़ेके प्रति जो गायका मोहभाव है, गायके जीवमें ही उत्पन्न होने वाला जो विकल्प है वह विकल्प बन्धन बन रहा है। तो उपचारसे कहते हैं कि परका बन्धन हुआ। जो धन वैभव आदिक जो परपदार्थ हैं, उनका जो सम्बन्ध है सो बन्धन है। अच्छा ये तो प्रकट भिन्न पर हैं। अब उससे और अन्दर चलिये तो बन्धु जन, कुटुम्बी जन ये भी यद्यपि परपदार्थ हैं, पर इनमें कुछ स्वरूपका सम्बंध है, नाता है। मैं चेतन हूं, कुटुम्बके लोग भी चेतन हैं तो अचेतनके बन्धनसे इस चेतनका बन्धन भीतरी बन्धन है। सभी मनुष्य परेशान हैं, क्यो परे-

शान हैं कि पुत्रसे, स्त्रीसे, भाईसे किसीसे जो घरमें हैं उनके प्रति लगाव है और समय आयगा कोई, आयु छूटेगी, छोड़कर जाना पड़ेगा, पर जितने दिन हम जीवित हैं, उतने दिन नहीं मानता यह मन कि हम सच-सच तो ज्ञान रखें। यहाँ मेरा कुछ नहीं, प्रकट भिन्न पदार्थ हैं, यह बात ज्ञानमें आ जाय तो उसे आकुलता नहीं रह सकती। तो बंधु जनोंसे जो सम्बन्ध है वह बन्धन है। एक बार राजा जनकके पास कोई गृहस्थ आया और उसने कहा—महाराज हम बहुत बड़ी तकलीफमें हैं, हमको इस कुटुम्बने जकड़ रखा है, हम उन्हें छोड़कर भाग नहीं पाते। हमें आप कोई उपाय बताइये। तो राजा जनकने उपाय तो मुखसे कुछ न कहा—सामने जो खम्भा खड़ा था उसे अपनी जोटमें भर लिया और कहा—अरे भाई हम बहुत दुःखी हो रहे हैं। हमको इस खम्भेने पकड़ रखा है। जब खम्भा हमें छोड़े तो हम आपको जवाब दें। तो वहाँ वह गृहस्थ बोला—महाराज हम तो आपको बड़ा विद्वान् जानकर आपके पास आये, लोकमें बड़ी प्रसिद्धि है कि राजा जनक बहुत ज्ञानी गृहस्थ संत हैं, मगर आप बड़े बेवकूफ मालूम होते हैं। आप तो कहते कि खम्भेने हमें पकड़ लिया, जब यह खम्भा छोड़ेगा तब हम उत्तर देंगे। तो वहाँ राजा जनकने यही उत्तर दिया कि बस तुम्हारा भी तो यही उत्तर है। अरे तुम स्वयं अपनी कल्पनासे, अपने भावोंसे गृहस्थीको पकड़े हुए

हो, फिर भी कहते कि गृहस्थीने मुझे पकड़ रखा है। यह भी तो तुम्हारा पागलपन है। तो यह परका सम्बंध ही बंधन है।

आत्मश्रृङ्गारकी ही सत्यश्रृङ्गाररता—जब हम आपका बन्धन है देहपर। यद्यपि देह अचेतन है, मगर अचेतन जानकर कोई मोह नहीं करता। यह मैं हूं, इसे पूरा चेतन समझता है और मोह करता है, शरीरको बड़ा सजाता है, शृंगार करता है, समझता है कि मैं चतुर हूं। मैंने अपना बहुत शृंगार किया, सम्हाला, मगर शरीरका शृंगार क्या? शरीर क्या वस्तु है? यदि आत्मा न रहे, शरीर अकेला रह जाय तो वह मुर्दा कहलाता है। शरीरसे बदबू आने लगती है। तो जिसके रहनेसे शरीरकी भी शोभा है, शरीरपर कान्ति आती है, कुछ चमक-धमक चल रही है तो आत्माके रहनेकी वजहसे ही तो चल रही है, और जिसके कारण शरीर प्रकृत्या सुन्दर लगता है उसकी तो सम्हाल नहीं करते, शरीरकी सम्हाल करते। शरीर तो खुद घिनावना अपवित्र और कान्तिहीन, दुर्गन्ध फैलाने वाली चीज है, पर इस शरीरके सारे ऐब जो लगे हैं, दुर्गन्ध नहीं आती, घिनावनापन नहीं आता, तो वह इस आत्माके कारण तो जिसके कारण यह शरीर भी सुन्दर लगता है उसका शृंगार करें। आत्माका शृंगार है कि यह आत्मा शान्त रहे, इसमें मोहबुद्धि न बने, कषायें न जगें, यह है अपना शृंगार। तो इस शृंगारको भूल गए। देहको ही

माना कि यह मैं हूं, उससे ही सम्बन्ध जोड़ा और उसमें बंधन आया, दुःख होने लगा देहसे भी और भीतरी परपदार्थसे। वह परपदार्थ क्या है? कर्म इनके संपर्कमें क्लेश ही मिलता है।

६१—**परतत्त्वोंसे अन्तस्तत्त्वकी विविक्तता**—देह तो आँखों दिखता है, मगर कर्म आँखों नहीं दिखते। कर्मके विषयमें नाम तो सभी जानते हैं, पर चीज क्या है कर्म? यह कुछ नहीं बताते। तकदीर है, कर्म है, भाग्य है, रेखा है, कितने ही शब्दोंसे बोलते हैं, मगर कर्म क्या चीज है? इस सम्बंधमें जैनसिद्धान्तने इतना स्पष्ट किया कि आधे ग्रन्थ तो कर्मफिलास्फीके सम्बंधमें हैं और आधे ग्रन्थ अध्यात्म द्रव्यानुयोगके हैं। तो कर्मफिलास्फी कितनी सच्चाईके साथ चित्रित किया है कि कर्म क्या चीज है? एक सूक्ष्म स्कंध है। सब जगह भरे हुए हैं और आत्माके साथ भी चलते हैं, रहते हैं। जब जीव कषायभाव करता है तो ये कर्म जो अभी कर्मरूप नहीं हैं, मगर कर्मरूप होनेके लिए सदा उम्मीदवार हैं वे कर्म बन जाते हैं। जैसे भोजन थालीमें पड़ा है तब तक वह एक शरीरका अङ्ग नहीं बनता और मुखमें पेटमें गया तो शरीरका अङ्ग बनने लगता है। अब चाहे वह रस बने चाहे मल। तो इसी तरहसे जो कषायभावके न होनेपर वे कर्म कर्म नहीं हैं, वे कार्माणवर्गणा हैं। जीवने रागद्वेष किया कि वे

कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं। और उनका अस्तित्व है, उसी समय उन कर्मोंमें यह निश्चय बन जाता है कि ये इस प्रकृतिके हैं। यह ज्ञानको ढकेगा। यह सुख साता का कारण बनेगा। इस तरह कर्ममें आदत बन जाती है। कर्म कब तक रहेंगे जीवके साथ ऐसी म्याद पड़ गई। कर्म कितनी डिग्री तक फल देंगे? ऐसा अनुभाग बन गया और कर्मप्रदेश तो हैं ही। और जब उनका उदय आता है, सत्ता पूरी होती है तो कर्मका ही बड़ा भयानक दृश्य बनता है और वह झलकता है जीवमें, और जीव उसे अपनाता है। यों जीवको दुःख लग गया। तो इन कर्मोंका सम्बंध बन्धन है और दुःखका कारण है। इससे और भीतर चलें तो परचीज क्या है? कर्म में जो अनुभाग खिला, कर्ममें जो क्षोभ आया, कर्मकी ही जो एकरूपता आयी, उदयकालमें वह विडम्बनारूप झलकी, बस यह है एक परतत्त्व। जैसे दर्पण है ऐना, उसके सामने कोई नीला-पीला कपड़ा किया तो दर्पणमें जो फोटो आयी, प्रतिबिम्ब आया, वह प्रतिबिम्ब परतत्त्व है, दर्पणकी निजी चीज नहीं है। हो रही है दर्पणमें और दर्पणकी ही स्वच्छता बिगड़ रही फिर भी वह दर्पणकी चीज नहीं है जो निमित्त पाकर आया, ऐसे ही मुझमें जो कर्मकी झाँकी है, कर्मकी छाया है तो वह परतत्त्व है, उसका जो सम्बन्ध बना यह ही बन्धन है। इसमें और अन्दर चलें तो जो कर्मका प्रतिबिम्ब हुआ

उस प्रतिबिम्बमें विकल्प किया, विचार बना, यह परतत्त्व है, विचारका सम्बन्ध भी बन्ध है, दुःखका कारण है। मनुष्योंमें जो सुखी लोग हैं, जिनके पास धन वैभव है, जिनको कभी कोई चिन्ता नहीं होती है उनको दुःख लगा है तो विचारका दुःख है। मैं विश्व भरमें सबसे ऊँचा बन जाऊँ, ऐसी उनकी आकांक्षा सताती है। उन विचारोंका संघर्ष जो उनके चल रहा है वे परतत्त्व हैं, कभी विचारोंके विरुद्ध कोई बात रखे तो उन्हें सहा नहीं जाता है। भला किसीने लाठी नहीं मारी, कोई शरीरपर आघात नहीं किया, कोई उसके विचारको नहीं मानता और उसके विचारके खिलाफ कोई काम करे तो उसमें यह बड़ा दुःख मानता है। तो विचारके प्रति कितनी आत्मीयता बनाये है, ये विचार परतत्त्व हैं, इनका सम्बन्ध बन्धन है और दुःखका कारण है। अब इससे और भीतर चलें तो जो जो कुछ परवस्तुओंके सम्बन्धमें ज्ञान चलता है, ज्ञेयाकार होता है, ज्ञानकी अन्तरंग स्वच्छताके मुकाबले वह भी परतत्त्व है। उसका भी सम्बन्ध बनाना बन्धन है।

६२—पर व परभावसे विविक्त परमब्रह्मके दर्शनकी मंगलमयता—पर और परभाव, इससे शून्य जो एक ज्ञानप्रकाश है उसमें आत्मीयता बनी कि यह मैं हूं, बस यही है कल्याणका उपाय। और अपने ज्ञानस्वरूपको छोड़कर बाकी सर्वपरभावों में यह मैं हूं, यह मेरा है, इस प्रकारकी बुद्धि बनाना यह है

संसारमें रुलनेका उपाय। तो परका सम्बन्ध बन्धन है और दुःखका कारण है। और अकल्याण क्या है? जीवनमें विकल्प करते रहें, दुःखी होते रहें, अज्ञान अंधकार छाया रहे, ज्ञान प्रकाश समाये नहीं, अपनेको भूला रहे, परमें अपनी दृष्टि पड़ी रहे, यह बहुत बड़ा अकल्याण है। यह जीव इस लोकेषणामें पड़ रहा है, इन दृश्यमान समागमोंमें ऐसा सावधान बना रहता है, ऐसा जागृत रहता है कि यह ही इसको सर्वस्व मानता है। कभी यह दृष्टि नहीं किया कि जगतमें जैसे अनन्त जीव हैं बस वैसे ही ये घरके लोग हैं। उनमें हममें कोई अन्तर नहीं, वे भी भिन्न यह भी भिन्न। उनके साथ भी उनके कर्म, उसके साथ भी इसके कर्म। मैं अनन्त जीवोंका कुछ नहीं करता तो घरमें रहने वालोका भी कुछ नहीं करता। विश्वास नहीं आता इस मोही जीवको कि इन जीवोंके साथ कर्म लगे हैं, उनके उदयसे ही इनको सुख दुःख मिल रहा है, मोहीको ऐसा विश्वास नहीं होता। उसको तो अभिमान रहता है कि मैं ही करने वाला हूं। लेकिन यह करने वाला क्या? जिन-जिनके पुण्यका उदय है बस उसकी नौकरी करने वाला है और जितना परतत्त्वोंके साथ सम्बन्ध है वह बन्धन है, दुःखका कारण है। अब आनन्द तो तब आये कि जब ऐसा ज्ञान जगे और अपना अन्तरात्मा स्वीकार कर ले कि सर्व अत्यन्त प्रकट भिन्न हैं, उनसे मेरा कुछ भी सुधार नहीं है, ऐसा भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगे और फिर घरमें रहना भी पड़े तो काम तो उतने ही

होंगे, मगर अब भीतरमें आकुलता नहीं रहती। आप सोचेंगे कि ज्ञान जग गया तो फिर घरमें कैसे रह सकते? फिर तो घर वह छोड़ेगा ही। तो कोई छोड़ भी सकता, कोई नहीं भी छोड़ पाता, क्योंकि शारीरिक स्थिति ऐसी है कि जिससे यह उपसर्ग उपद्रव सहन नहीं कर सकता। छोड़ दिया घर, अब शरीरमें भूख-प्यास तो लगेगी ही। अब उसकी वेदना तो सह नहीं सकता। तो शारीरिक स्थितियोंके कारण ज्ञानी पुरुषको अपने ज्ञानकी कमजोरी होनेसे उसे घरमें रहना पड़ता है, मगर ज्ञानप्रकाश जग जानेसे उसके अन्तः आकुलता नहीं रहती।

६३—तत्त्वज्ञानीके व्यग्रता विपत्तिका अभाव—देखो बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं जगतमें। उन अनर्थोंके आगे इतने वर्तमान अनर्थ कुछ नहीं हैं। थोड़ासा नुक्सान हो तो लोग दुःख मानते हैं, मगर किसी किसीका तो देखा होगा लाखोंका नुक्सान हो जाता है, उनके आगे यहाँ क्या नुक्सान? किसीका इकलौता बेटा हो, कमाने वाला हो, बड़ी ऊँची योग्यता पा ली हो और अचानक मृत्यु हो जाय, ऐसे बड़े-बड़े दुःख आते हैं, उनके सामने यहाँ कुछ दुःख नहीं, पर थोड़े-थोड़ेसे दुःखोंमें ही ये घबड़ा जाते हैं, बेचैन हो जाते हैं, किंकर्तव्यमूढ़ हो जाते हैं और दुःखोंका पहाड़ बना लेते हैं। कुछसे भी कुछ अनर्थ हो जाय, पर ज्ञानी पुरुषके लिए वह कुछ अनर्थ नहीं, उसे वह अनर्थ नहीं समझता। वह तो समझता कि ऐसा ही होना था,

परवस्तु थी, उसपर मेरा अधिकार नहीं, ऐसा समझकर वह अपने आपमें निर्व्यग्र रहता है। परका सम्बन्ध साक्षात् बन्धन है। जैसे लोग किसी बड़ी दुर्घटनाके समयमें यह कह बैठते हैं कि हाय बड़ा गजब ढा गया। अब न जाने क्या होगा, याने वह बहुत कठिन दुर्घटना है तो वहां ज्ञानी पुरुष ऐसा सोचता है कि यह सब अज्ञान अंधकार है। व्यर्थमें किसी परपदार्थमें क्या उपयोग फंसाना? यह भी जीवका स्वरूप नहीं। भले ही वह अभव्य जीव है, किसी भी जीवपर मेरा रंच भी अधिकार नहीं। ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें भव्य और अभव्यका यह विघात नहीं कि भव्यके तो ज्ञानप्रकाश जगे और अभव्यके ज्ञानप्रकाश न जगे। उसके लिए तो केवल एक चैतन्यस्वरूप का विघात है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि "निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान।। याने आत्माको जानें कि यह मैं हूं और परको जानें कि यह पर है, फिर दुःख का कोई कारण नहीं है। अनुराग दो तरहका होता है—एक तो मोहबुद्धिके सम्बंधका अनुराग और एक धर्मबुद्धिके सम्बंध का अनुराग, मगर मोहबुद्धिके सम्बंधका अनुराग तो संसारमें रुलाने वाला है, और धर्मबुद्धिके सम्बंधका अनुराग संसारसे छुटकारा पानेका उपाय बनाने वाला है। ऐसे धर्मानुरागमें निरागताका अंश रहता है। उस धर्मानुरागसे लाभ उठा लें ताकि ऐसा वैराग्य उत्कृष्ट हो जावे कि रागका अंश भी न

रहे। यह वर्तना ही चारों गतियोंका भ्रमण नष्ट करती है।

करत अहित भारी।

६४—**चिच्छक्तिमात्रसे अतिरिक्त भावोंसे परमब्रह्मकी विविक्तता**—अपने आपको अपनेमें देखें और अपनेको सम्हालने की भावना रखकर विचारें। हम क्या किया करते हैं? मैं क्या किया करता हूं? जब यह समझमें आये तब इसका उत्तर आयगा कि मैं क्या किया करता हूं, जिसने पर्यायको ही माना कि यह मैं हूं वहाँ सही उत्तर नहीं आ सकता कि मैं क्या हूं? उनके उत्तर हजारों हैं। मैं क्या हूं, इसके समझनेके लिए क्या ऐसा सोचें कि मैं मिट जाऊँ? क्या मैं ऐसा हूं? नहीं। मिटनेकी बात कोई पसंद नहीं करता। तो मैं मिट न सकूं, शाश्वत रहूं, ऐसा मैं कुछ होऊँगा। अब इस माध्यमसे विचार करें तो बाह्य पदार्थ जो धन वैभव आदिक हैं वे प्रकट भिन्न हैं, देहसे भी भिन्न हैं। आप लोग यहाँ हैं तो आपके कुछ साथ आया नहीं। जो कुटुम्बी जन हैं वे भी परजीव हैं उससे और निकट चलें तो जो यह देह है यह भी मैं नहीं हूं। व्यर्थ ही लोग इस देहको देखकर शृंगार करते हैं, कुछ सोचते हैं, सम्मान-अपमान महसूस करते हैं, जो कोई बुरा मानते है उनके यह समझ है कि यह जो दिखने वाला शरीर है सो मैं हूं। ऐसा भाव है तब ही तो लोग सम्मान-अपमान महसूस करते हैं। जो वास्तविक मैं है, यदि उसका ध्यान रहे तो वह सम्मान अपमान न महसूस करें। तो यह देह भी मैं नहीं

और इस देहका बीज जो कर्मविपाक है वह भी मैं नहीं। जो कर्मविपाक होता है उसकी छाया प्रतिफलन इस उपयोगमें होता है, जो एक शुरुआत होती है जीवके विकारकी। जैसे दर्पणके सामने जो वस्तु है उस वस्तुकी चीज उस ही वस्तुमें है। उससे बाहर नहीं गयी, मगर उसका सन्निधान पाकर दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब होता है वह दर्पणका परिणमन है, नैमित्तिक है। इस प्रकार जब कर्म उदयमें आते हैं, कर्मविपाक है, उसका जो प्रतिफलन है वह मैं नहीं और उस प्रतिफलन को आत्मसात् कर उपयोग द्वारा कुछ अपना विचार बनायें वह मैं नहीं, और परद्रव्यके बारेमें किसीके बारेमें जो विचार बने वह मैं नहीं। मैं वह हूं जो अमिट है। ये विचार मिट जाते हैं। ये विचार भी मैं नहीं हूं, और अबुद्धिपूर्वक जो बाहरी पदार्थोंका कुछ प्रतिभास होता है, ज्ञेयाकार बनता है वह भी मैं नहीं हूं। ज्ञेयाकार होते हुए भी ज्ञेयाकार मैं नहीं, किन्तु जिसके आधारपर ज्ञेयाकार बनता है, ऐसी जो एक ज्ञान स्वच्छता है वह मै हूं। इस मैंको जिसने पहिचाना वह सम्मान अपमान क्या समझे? यह तो बाहरी मेला है। यह सब तो थोड़े दिनोंका मेला है, थोड़े क्षेत्रका है और अज्ञानमें हुआ है। इससे इस मुझ आत्माका क्या सम्बंध?

६५—**परसम्बंधकी विपत्ति**—अपनेपर जो विपदा है उसे जरा दृष्टिमें देखो, मुझपर विपदा क्या है? विपदा यह है कि कर्मका जो प्रतिफलन हुआ, उसमें मैं समझता हूं कि यह मैं

हूं, ये मेरे हैं, ये सब हमारे हैं, ऐसा जो भीतरमें एक पर झांकीमें कुछ अटक गया, यही विपदा है और दूसरी विपदाको विपदा न समझें। संयोग होना, वियोग होना आदि ये सब बाहरी बातें है, दुनियाकी बातें हैं। वास्तविक विपदा यह है कि मैंने अपने आपके स्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें अपना लक्ष्य अटकाया, उनको अपना माना और अपनेको भूला। इस विपदाका जो स्मरण करता है वह विपदासे बच जाता है और जिन्हें विपदाका ही पता नहीं है वे विपदासे दूर होनेका उपाय ही क्या बना सकते हैं? विपदा है हमपर परका संबंध? यह ही बंध है, यह ही दुःखका कारण है। परका सम्बंध वस्तुतः नहीं होता, पर पर हैं, वे मुझमें क्या मिलेंगे? किसी भी वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं मिलता। मैं स्वतंत्र सत् हूं, प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र सत् है। उनका सब कुछ उनमें है। मेरा सब कुछ मुझमें है, पर सम्बंध क्या बनाया कि परवस्तुके बारेमें तो ये कल्पनायें जगायीं कि मैं अच्छा हूं, बुरा हूं, ये मै हूं, उसके बारेमें लोगोंने कुछ गाली दी है, कुछ अच्छी बात है। इस तरहकी जो कल्पनायें जगती हैं वे कल्पनायें मेरे लिए विपत्ति हैं। बाह्यपदार्थ मेरेको क्या विपदा करेंगे? बाह्य पदार्थोंसे न सुख आता, न दुःख आता। बाह्यसे कष्ट है ही नहीं। बाहरी पदार्थ बाहरमें अवस्थित हैं, पर मैं ही अपने आपमें गुंतारे लगाता कल्पनायें करता, तो मैं

क्या करता हूं ? बस मैं अपने उपयोगका परिणमन किया करता हूं। इससे आगे मैं और कुछ नहीं किया करता। संसारी जीव क्या किया करते हैं ? बस अपने उपयोगका परिणमन करते और कुछ नहीं, और जो मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि हैं वे भी क्या करते ? अपने उपयोगका परिणमन करते। यही तो भ्रम बना रखा है कि मैंने अमुक पदार्थको बनाया, अमुक पदार्थको भोगा और इस भ्रममें इतनी चोट पहुची कि वहाँ ही ध्यान रहता है, स्वरूपकी सुध हम भूल जाते हैं। तो हम कल्पनायें बनाते हैं, यही तो अनादिकालसे चला आया है। जैसे कोई पूछता है कि भाई आपने क्या-क्या रोजिगार किया ? तो वहाँ दसों बातें बतायेंगे—असलमें पूछो तो केवल एक ही रोजगार किया—उपयोगका परिणमन। जब हम अशुद्ध हैं और विकारोंका संस्कार लगा है तो हम उपयोगका विकारपरिणमन करते हैं जिस परिणमनसे हम सुखका अनुभव करें और जब हमारी दृष्टि विशुद्ध होती है, सही बोध होता है, शुद्ध ज्ञान जागृत होता है, शुद्ध ज्ञान क्या है ? निज को निज परको पर जान। जब यह दृष्टि रहती है कि मैं यह चैतन्यस्वरूप, प्रतिभासस्वरूप शाश्वत हूं, बाकी यह सब पर हैं, परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, अत्यन्त भिन्न हैं, अनेक प्रकार वाले हैं, पर मैं तो केवल एक सहज चैतन्यस्वरूप हूं। इसका जो आश्रय करेगा उसे सम्यक्त्व होगा, उसका चारित्र बनेगा,

उसका मोक्ष होगा। और एक सहजस्वभावका आश्रय छोड़कर बाह्य पदार्थोंका आश्रय किया, कुछ भी बाह्यका आश्रय कोई करता नहीं है, पर कल्पनामें माना कि बाह्यसे मेरेको सुख है, बाह्यकी ओर ध्यान है तो यह इस जीवपर विपदा है।

६६—काल्पनिक विपत्तिको दूर करनेका तंत्र—काल्पनिक विपदाको मिटाना है तो उसका उपाय यह बनाना है कि हम दृढ़प्रतिज्ञ बनें—हमें संसारमें रुलनेकी जरूरत नहीं। मैं तो संसारसे मुक्त होऊँगा, मुझको तो परम-आत्मा बनना है, और कुछ नहीं बनना है। एक यह भावना होनी चाहिए कि मेरेको अन्य कुछ नहीं होना है। उसमें कितना विलम्ब होगा, कितना समय जायगा ? उसका कुछ ख्याल नहीं करता। मेरे को तो मुक्त होना है, सदाको संकटोंसे छूटना है, इसके लिए जो जो कुछ भी बलिदान करना पड़े वह सब करें। पहला बलिदान है कषायोंका आग्रह तजना। लोकव्यवहारमें भी, परस्परके व्यवहारमें भी पहलेसे सीखना चाहिए इस बातको। जो हम ठान बैठे, जो हम सोच बैठे, हम जो किसी परतत्त्वके बारेमें कुछ सोच बैठे और उसका हम आग्रह करते हैं जिसके आधारपर क्रोध भी जगता, मान बनता, माया बनती, लोभ बनता तो जब हमारी रक्षा होती है तो उस कषायका आग्रह तजनेमें कोई संकोच न करना चाहिए। जो अनादिकालसे मिथ्यात्व लगा उसका संकोच करें। अजो इससे बड़ी प्रीति

की, इसे मैं कैसे छोड़ूंगा ? अरे इसके छोड़नेसे ही काम बनेगा, ऐसा हमारे व्यवहारमें कभी कोई कषाय जगे तो उसका आग्रह तजनेमें संकोच क्यों ? ये कषायें छोड़नी चाहिएँ, जो ऐसा निष्काम, फकीर। जो ऐसा निरपेक्ष अपने आपको बनाना चाहे, इस तरह ढालना चाहे उसे ही धर्मकी बात मिलती है और जो कषायोंका आग्रह रखता है उसे धर्मकी बात नहीं मिलती है। जो कषायोंका आग्रह न करें। केवल एक स्वभाव का आग्रह, विभावोंका असहयोग करें। देशमें भी आजादीके लिए दो ही उपाय अपनाये गए थे—एक तो सत्यका आग्रह और दूसरा विदेशियोंको असहयोग। तो क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें, देह धन-वैभव आदिक इनका असहयोग करें और अपना सत्त्व क्या है ? जो मेरेमें सत्में निरपेक्षतया सहजभाव है वह मेरा सत्य है। वह क्या है ? सहज चैतन्य-स्वरूप। उसका आग्रह करें। मैं यह हूँ, जिसमें वह खुश रहे वह काम करना है, जिसमें मेरा आत्मा प्रसन्न रहे, निर्मल रहे, अविकार रहे, विशुद्ध आनन्दमय रहे वह काम करना है और जिससे मेरा आत्मा कष्टवान रहे, वह काम नहीं करना है। मेरी प्रसन्नता है मेरे सहज स्वभावके आश्रयमें, किसी भी परवस्तुके आश्रयमें, लोभमें, सम्बंधमें, विचारमें, कल्पनामें मेरेको प्रसन्नता न जगेगी। यहाँका जो मौज है वह भी क्लेश है और जो क्लेश है वह भी क्लेश है। यहाँ जो रागकी

चीज मिली उसके प्रति जो मौज मिलता है, जो प्रसन्नता होती है वह एक ऐसा कष्ट है कि जिसमें यह जीव अपने आत्माकी सुध भी नहीं करता। दुःखमें तो कहो सुध हो जाय निज सहज परमात्मतत्त्वकी अथवा प्रभुकी। कारणसमयसार और कार्यसमयसार इनकी सुध दुःखमें, उपद्रवमें हो सकती है, मगर किसी वस्तुके पञ्चेन्द्रियके विषयमें जहाँ राग लगा वहाँ मौज मान रहे हैं, ऐसा उपयोग करते समय उसको सुध होना बहुत कठिन है, इसलिए दुःखसे भी कठिन है संसारका सुख। यह तो संसारमें जन्ममरणकी परम्परा बढ़ायेगा।

६७—निरपेक्ष बनकर मानवजीवनमें आत्मलाभ पानेका अनुरोध—भैया ! बड़ी मुश्किलसे यह मनुष्य पर्याय मिली, श्रेष्ठ बात मिली। यहाँके इन सुख दुःखोंसे विमुख होनेकी भावना बनायें। न सुख चाहें न दुःख। मेरेको तो एक सत्य-स्वरूपकी दृष्टि चाहिए कि मैं यह हूं। इसके आगे और कुछ न चाहिए। हे प्रभो ! मुझे तो अनंत ज्ञान भी न चाहिए जिस केवलज्ञानकी बड़ी तारीफ होती है, जिससे तीन लोक तीन कालका ज्ञान होता है, हे प्रभो वह भी मैं नहीं चाहता। मैं तो बस यही चाहता कि जो मैं हूं वह ज्ञान मुझे बना रहे। ऐसा करेंगे तो अनन्त ज्ञान तो झक मारकर होगा, पर मुझे उस अनन्तज्ञानका लोभ नहीं है। मेरा जो सहजस्वरूप है, वही मेरे ज्ञानमें रहे, वह न छूटे, बस यही एक भावना है।

मुझे अनन्त दर्शन भी न चाहिए । होगा अवश्य अनन्तदर्शन, पर मैं चाहता नहीं । मैं तो चाहता हूं अपने सहजस्वरूपका दर्शन । मैं अनन्त सुखकी भी चाह नहीं करता । यदि मैं अनन्त सुखकी चाह करूँगा तो वह भी लोभकी एक जाति बन जायगी । अनन्त सुख होना अवश्य पड़ेगा शुद्ध पर्यायमें, मगर उसमें हमारी दृष्टि बनेगी तो उसमें तृष्णा जैसा सम्बंध बनेगा । मैं तो यह चाहता हूं कि मैं अपने सुखस्वरूपसे कभी हटूँ नहीं, मेरा ज्ञान मेरे ज्ञानस्वरूपमें बना रहे, यही मेरी वास्तविक सम्पत्ति है, और यदि मैं कल्पनाओंमें बना रहा तो यही मुझपर विपत्ति है । तो इस विपत्तिसे मुझे हटनेका पौरुष करना चाहिए ।

परमब्रह्मका दर्शन चहुंगति दुखहारी ।

६८—**शान्तिका कारण आत्माकी सम्हाल**—हम आप सबको यही अभीष्ट है कि दुःख न हो और शान्ति बनी रहे । तो दुःखका कारण क्या और शान्तिका कारण क्या ? दुःखका कारण है परपदार्थका सम्बंध अर्थात् परपदार्थके विषयमें ममता अथवा उससे अपने बड़प्पनकी कल्पना और सुखका कारण है, शांतिका कारण है अपने आपके सहजस्वरूपका दर्शन अथवा यों निरखिये भीतरमें अपना उपयोग अपने स्रोतको छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें रमे यह तो है दुःखका कारण और अपने ही स्रोतमें अर्थात् सहजस्वरूपमें अपना उपयोग रमे, यह है शांति

का कारण । कर्म कैसे कटते हैं ? कर्मोंको कोई काट थोड़े ही सकता है ? कर्म तो भिन्न पदार्थ हैं आत्मा उससे जुदा है, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, याने आत्मासे ऐसी करतूत बने, ऐसा उपयोग विशुद्ध बने जिसका सन्निधान पाकर कर्मों का कर्मत्व सूख जाता है । जैसे कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष भाव बनते हैं, इसी प्रकार जीवके शुद्ध भावका निमित्त पाकर कर्मोंमें निर्जरा होती है । तो वह कार्य करें हम जिसमें कि हम स्वतंत्र हैं और जिसको पा लेनेसे शान्ति मिलती है, कर्म कटते हैं वह काम है परमब्रह्मका दर्शन । तो स्वरूपको ब्रह्म क्यों कहा ? स्वगुणैः ब्रह्माति इति ब्रह्म । जो अपने गुणोंसे बढ़ता रहे उसे कहते हैं ब्रह्म । तो आत्माका जो स्वरूप है, स्वभाव है वह तो बढ़नेकी ही कला रखता है । अब हम ही खुद रागद्वेषमें रमते हैं, बाह्य वस्तुवोंको अपनाते हैं । कर्मोंका ऐसा ही विचित्र विपाक होता है कि हम उस स्वभाव विकाससे वंचित रह जाते हैं, लेकिन स्वभावकी प्रकृति, स्वभावकी कला बढ़नेकी ही है, इस कारणसे इसे ब्रह्म कहते हैं । तो ऐसा जो आत्मस्वरूप है उसका जो अवलोकन, दर्शन, अनुभव अर्थात् ज्ञानमें सहजज्ञानस्वरूपका ज्ञेय बनना यह कर्मों का विध्वंस करने वाला साधन है । कर्म स्वयं विध्वंस तो प्राप्त होते हैं । कर्मोंको जैसे जीव काटता नहीं, ऐसे ही जीवके रागद्वेषको कर्म करता नहीं, पर ऐसा सम्बन्ध है कि जैसे दीपक

जल रहा तो दीपक तो उतना ही है जितना कि खुदमें एक प्रकाशमान वस्तु है। बिजलीमें जैसे तार, दीपकमें जैसे लौ, तो दीपक जैसे अपने लौ के बाहर कुछ काम करने नहीं जाता, लेकिन पदार्थ स्वयं प्रकाशमान हो जाते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है, ऐसा ही यह जीव अपने भावोंको सम्हालता है कि कर्मोंमें बखेड़ा होने लगता है। कर्म स्वयं विध्वंस की ओर जाने लगता है, ऐसा ही एक निमित्तनैमित्तिक योग है परद्रव्यके नातेसे जीव कर्मका कुछ नहीं करता, कर्म जीवका कुछ नहीं करता।

६९—जीव और कर्मकी भिन्नता होनेपर परस्पर निमित्त-नैमित्तिक योगका अवकाश—जैसे एक मोटा दृष्टांत अभी लो। श्रोता जन बैठे हैं, वक्ता बोल रहा है, श्रोता सुन रहे हैं, तो अब यह बतलावो—श्रोताने वक्तासे बुलवाया क्या या वक्ता ने श्रोताको समझाया क्या ? न तो वक्ता श्रोताको समझा पाते, न श्रोता वक्तासे बुलवाते। बोलने वाला अपने आपके श्रमसे अपनी क्रिया कर रहा है। सुनने वाले अपने आपके श्रमसे अपनी क्रिया कर रहे और जहां तक समझकी बात है भले ही कोई वचन बोल रहा है, वक्ता कुछ कह रहा है, मगर वक्ता समझ नहीं पाता, श्रोता ही शब्दोंको सुनकर उनके अर्थ को चित्तमें लकर अपने आपमें अपनी समझका परिणाम बनाते हैं, पर निमित्तनैमित्तिक योग है जो कि स्पष्ट है। तो

ऐसे ही जब हम अपने स्वभावकी सम्हाल करते हैं तो कर्म स्वयं विघटते हैं, चतुर्गतिके दुःख दूर होते हैं। जिस कामके करनेका हमें अधिकार है, जिसमें हम स्वतंत्र हैं, जो हम कर पाते हैं उसको करनेमें हम ध्यान दें, धर्मके लिए हमें सम्हाल कहां करनी है ? अपने अन्दर करनी है। अपने ही स्वरूपको सम्हालना है, उसे ही लक्ष्यमें लेना है, वह ही मेरे ज्ञानका ज्ञेय रहे, ऐसा हमें पौरुष करना है। धर्मपालन होगा। वास्तविक धर्मपालन तो यह है, पर चूंकि अज्ञानवासना विषय संस्कारमें हम पले आये हैं तो हम इस बातमें सफल नहीं हो पा रहे। सुनते हैं रोज, बोलते हैं रोज। ध्यानमें भी कभी-कभी लाते हो हैं कि हमें अपने सहजस्वरूपका ध्यान रखना चाहिए। तो अभी रख लो ना, तुरन्त रखो, देर क्यों करते ? क्यों नहीं रखा जाता ? वह भी एक निमित्तनैमित्तिक योगवश घटना है, कर्मविपाक ऐसा है, उनकी झांकी ऐसी है, हमारी अशुद्धता ऐसी है कि हम नहीं सफल हो पाते अपने आपके ध्यानमें।

७०—शुभोपयोग द्वारा अशुभ भावोंका आक्रमण हटाकर शुद्धोपयोगमें प्रवेश करनेका विधान—भैया ! ऐसी स्थिति में जब मन, वचन, कायकी क्रिया चल रही है, किसी बाहरी पदार्थमें जहां कहीं चल रही है तो हमारा कर्तव्य यह है कि हम उन क्रियावोंको बदल दें। मन, वचन, कायकी चेष्टायें जो पापकी ओर चल रही थीं उसे हम शुभ भाव, शुभ कार्यकी ओर

लगा दें, यह एक अपनी सुरक्षा है। जिसे कहते हैं शुभोपयोग। जब अशुभोपयोगसे पीड़ित चले आ रहे हैं तो हमारा कर्तव्य है कि उस अशुभोपयोगको बदल दें और शुभोपयोगमें आयें, और शुभोपयोगमें रहकर हम अपनेको सुरक्षित बनाकर फिर हम उस शुद्ध स्वरूपका ध्यान करें। विधि ही ऐसी है, क्योंकि अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग किसीको न कभी हुआ और न कभी हो सकता। जिन-जिनको भी शुद्धोपयोग बना है वह शुभोपयोगके अनन्तर ही बना है, अशुभोपयोगके अनन्तर नहीं बनता, क्योंकि ऐसी ही एक विधि है। उसका भाव यह है कि शुभोपयोगसे हम आपको सुरक्षित बनाते हैं, बाहरी आक्रमणों से बचाव कर लेते हैं और उस सुरक्षित दशामें हम अपने आपमें उस शुद्ध सहजस्वरूपका ध्यान करें, उसमें ही अन्तर्मग्न हों तो हम उस शुद्धसे उपयोग बना लेते हैं। तो हमारा कर्तव्य है मूलमें कि हम अपने स्वरूपकी आराधना करें। मैं क्या हूं? बहुत गहरे जाकर विचार करना, देहका भी भान न रहे, ऐसा गहरे विचारमें डूबना है। समयका भी ध्यान न रहे, ऐसे गम्भीर निज चिन्तनमें पहुंचना है, क्षेत्रका भी ध्यान न रहे कि हम कहाँ बैठे हैं? ऐसे अपने आपके गम्भीर स्वरूप में पहुंचें, ऐसा चिन्तन चले, ध्यान बने, केवल एक ही वहाँ दृष्टि रहे, मैं क्या हूं? मैं हूं सबसे निराला एक चैतन्यप्रकाश का अद्भुत वस्तु हूं, अमूर्त हूं और चेतना-चेतना ही जिसको

एक वृत्ति है, ऐसा चैतन्यप्रकाश मात्र मैं आत्मा हूं। जो मैं यह हूं वास्तवमें अपने सहज स्वरूप अपने ही सत्त्वके कारण मेरेमें जो बात होती है उसे निरख करके अनुभव करना कि मैं यह हू। कषायोंने जीवको परेशान कर रखा है। क्रोध आता है तब हम बड़े विह्वल होते हैं। दूसरेके बिगाड़की एक बड़ी उत्सुकता जगती है। तो बिगाड़ तो दूसरेका हो नहीं पाता। होना न होना उसके पुण्य पापके आधीन है, उसकी वृत्तिके आधीन है, पर विचार करके दूसरोंका बुरा चिन्तन करके यह स्वयं अपने आपका घात कर डालता है। तो कषायोंसे परेशान है। मानकी परेशानी। नाम लगा रखा, कुछ सोच रखा और उसमें अन्याय बना रखा, मैं यह हूं। मानकी परेशानी, छल कपटकी परेशानी, लोभकी हैरानी। इनका जो उपयोग चलता है तो इसमें हैरान रहते हैं। तो इन सब परेशानी और हैरानियोंको दूर करनेका उपाय है एक परमब्रह्मका दर्शन। कुछ थोड़ा प्रयोग करके समझें, यह चीज प्रयोग द्वारा समझमें आती है, वचनों द्वारा नहीं आती। जैसे वचनोंसे बोला जाता, उसका जो कुछ भाव बनता उस प्रकारका भाव निजमें बनानेसे उस तत्त्वके दर्शन होते हैं। जैसे रस रसीली चीजोंका कोई कितना ही वर्णन करे, उससे जैसे रसका स्वाद नहीं आता, किन्तु रस को चखें, जिह्वापर रखें तो रसका स्वाद आता है। ऐसे ही वचनों द्वारा अन्तस्तत्त्वका अनुभव नहीं होता, किन्तु उस अंत-

स्तत्त्वको जब ज्ञानवृत्ति द्वारा कोई प्रयोगमें ले तो उसका अनुभव होता है । तो यह तो खुदको ही करना होगा, इसे कोई दूसरा न करने जायगा । शास्त्र बताते हैं, सिखाते हैं, गुरुजन बताते हैं, ठीक है. सुन लिया, कुछ समझ लिया, अर्थ जान लिया, पर उस रूप अपना प्रयोग बनायें तो अपनेसे अनुभव बनेगा । दूसरा इस अनुभवको न बना जायगा । तो इसका ही उद्यम करना शेष रह गया है, बाकी तो सारे काम अनादिसे करते चले आये हैं । काम भी नहीं करते चले आये, अपना उपयोग ऐसा ही बिगड़ता चला आया है, पर एक यह काम करनेका है जो नहीं किया । किया होता तो संसारसे तिर जाते । तो अब संसारसे तिरनेका कोई काम बनाना है । बनेगा आत्मानुभव द्वारा ।

७१—आस्थाके अनुसार अनुभूति—देखो, सीधीसी बात है । जैसे लोकमें हम अपने आपके लिए जब अनुभव बनाते कि मैं अमुकका पिता हूं तो क्या यह बात नहीं जगती कि मैं इन बच्चोंके लिए कुछ साता दूं, राहत दूं, इनकी तकलीफ मेटूं, कुछ धन जोड़ दूं, इनको कुछ बना जाऊँ, मैं बाप हूं, ऐसा मनमें अभिप्राय आते ही कुछ न कुछ बात कल्पनायें आयेंगी ही । ऐसे ही समझ लीजिए कि जब कभी कोई त्याग कर ले या मुनि बन जाय और वहाँ सोचे कि मैं मुनि हूं, मैं साधु हूं तो उसके अनुरूप उसकी वृत्ति जगेगी । हमको देख-

कर चलना, हमको इस प्रकार उठना-बैठना, सोना, बोलना, ऐसी बातें जगेगी । अब अन्तर्दृष्टिसे सोचें तो मैं मुनि हूं, इस आशयके आधारपर यदि मुनिक्रिया चले तो वह वस्तुतथ्यका नियामक नहीं है । मुनिको तो चित्तमें बात ही नहीं आती कि मैं साधु हूं, मुनि हूं, ऐसी पर्यायमें आत्मबुद्धि नहीं होती । वह तो एक भेष है । उसे पर्यायमें यह आपाबुद्धि नहीं होती कि मैं यह हूं । उसका तो यही ध्यान रहता है कि मैं एक चैतन्यप्रकाश हूं । मेरेको एक चैतन्यप्रकाशका ही काम पड़ा है ।

७२—धर्ममार्गमें गृहस्थ, मुनि सबका एक ही लक्ष्य—भैया ! ऐसा समझिये कि गृहस्थ भी हो और ध्यान बनाये कि मैं गृहस्थ हूं, मुझको ऐसी-ऐसी क्रियायें करनी चाहिएं । अगर गृहस्थ हूं, इस प्रकारके भावके आधारपर कोई धर्मकी, तन, मनकी, वचनकी चेष्टा की तो वहाँ वह सहज धर्म न प्राप्त कर सकेगा । कषाय है, वह उसे रोकती है, और ज्ञान है वह इसे धर्ममें बढ़ाता है, ऐसी स्थितिमें सम्यग्ज्ञान, सम्यक्त्व तो इसको धर्ममें ही चलानेका काम करता और कषाय बैठी है सो वह अपनी कषायके लिए ही काम करता है । तो दोनों वृत्तियों का जो सम्मिश्रण है, बस वही गृहस्थधर्म है । गृहस्थधर्म खाली क्रिया क्रियाका नाम नहीं । गृहस्थधर्म केवल आत्मध्यानका नाम नहीं, आत्मध्यानकी ओर बढ़ता रहे और कषायोंसे इसका कुछ एक विघ्न चलता रहे तो विघ्न और विकास, बस इन

...ओंका सम्बंध है गृहस्थधर्ममें। अब यह अपनी-अपनी योग्यता की बात है, कैसे-कैसे बड़े विघ्न हामी हो जाते हैं, विकास नहीं कर पाता। किसीके विकास चलता है। विघ्न हामी नहीं होता। तो विघ्न हामी न हो सके और विकास चले, ऐसी स्थिति चलती है निर्ग्रन्थदशामें, लेकिन वहाँ भी एक देहबुद्धि रहे तो वह विकास नहीं चलता। प्रयोजन यह है कि सर्व स्थितियोंमें गृहस्थ हो तो, साधु हो तो धर्मपालन है एक सहज-स्वभावके दर्शन और आलंबनमें। जितना-जितना हमको सहज-स्वरूपका आलम्बन है उतना-उतना धर्मपालन है।

७३—संकटके उपाय और अपायका दिग्दर्शन—यह आत्माका निज सहज चैतन्यस्वरूपका अवलोकन, दर्शन यह ही हमारे दुःखको दूर कर सकता है। मैं क्या हूं? इसके निर्णयपर ही हमारा सारा भविष्य है। मैं एक चैतन्यप्रकाश हूं। अगर वास्तवमें ऐसा ध्यान बन गया, निर्णय बन गया और ऐसी ही धुन बन गई तब उसको फिर संकट नहीं रहता। संकट होता है परवस्तुका सम्बन्ध बनानेसे और संकट मिटता है परसे विविक्त निज चैतन्यस्वरूपमें लीन होनेमें। दोनों ही बातें ये हमारी चीज हैं, हम करते हैं, कर सकते हैं। तो अब यही सुधार करनेका काम पड़ा है, कुछ हमने कल्पनामें बनाया, दुःख मिला, अन्तः हमने अपने स्वरूपके दर्शन किया, शान्ति मिली। स्वरूपका दर्शन कैसे होता कि हम उसकी बार-बार

भावना बनायें। मैं अविकार हूं—स्वरूपको देखते जायें और ध्यान रखा जाय कि यहाँ विकारका क्या काम? विकार क्या चीज है, क्या मेरे निजके स्वरूपकी चीज है? क्या मेरे निजके स्वरूपकी चीज है? मेरे निजके स्वरूपकी चीज है चेतना, प्रकाश। विकार मेरे स्वरूपकी चीज नहीं, पर ये विकार आये कैसे? ये विकार मूलमें तो कर्मके विकार हैं। जैसे समय-सारमें बार-बार बताया है कि मिथ्यात्व दो प्रकारके हैं—अविरति, अज्ञान, ये सब दो-दो तरहके, कषायें दो-दो तरह की—जीव और अजीव। जीवकषाय, अजीवकषाय। तो वह अजीव कषाय क्या चीज है? जो कर्म हमने बाँध रखे थे पहले उसी समय उनमें कषायका अनुभाग पड़ गया था। उसी समय चार बन्ध हो जाते हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबंध। तो जो हमारी क्रोधप्रकृति है अचेतनप्रकृति उसका जब उदय होता, विपाक होता तो उस अचेतन प्रकृतिमें क्रोधन परिणाम होता है। यहाँ परिणामके मायने चेतन-परिणाम नहीं, परिणमन होता। अब चूंकि एक क्षेत्रावगाह है, बंधनमें है, निमित्तनैमित्तिक योगमें है तो हुआ तो कर्ममें क्रोध मान, माया, लोभ, और उसका जो एक प्रतिफलन है उसमें इस जीवने ऐसा मान लिया कि मुझमें क्रोध, मान, माया, लोभ है, और जो क्रोधमें उपयुक्त हो जाता है। जैसे कहा है ना—कोहुअ जुत्तो कोहुअ माणुअ जुत्तो हवे माणो। जो क्रोध

में उपयुक्त है वह क्रोध है। जैसे हम यहाँ बाहरी पदार्थोंमें उपयुक्त होते हैं यह तो हम जानकर उपयुक्त होते हैं, पर अंतः जानकर नहीं, किन्तु निमित्तनैमित्तिक योग ऐसा होता है कि वहाँ कषाय निमित्त होती है। तो ये विकार नैमित्तिक हैं, कर्मकृत उपद्रव हैं, मेरे स्वरूपकी चीज नहीं है। मैं इनमें क्यों रमूं ? मैं इनसे हटकर, निवृत्त होकर अपने सहजस्वरूपमें ही रमूं।

७४—आत्मध्यानसे अहितका अपाय—मैं हूं एक विशुद्ध चैतन्यप्रकाश, इसमें कष्टका नाम नहीं। ऐसा अपने आपको बार-बार अनुभव करें तो कष्टरहित इसकी परिणति बने, और जहाँ अपनेको माना कि मैं दुःखी हूं, बड़ा हैरान हूं, परेशान हूं, बस उसके हैरानी ही है। और जो कष्टरहित निज अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखता, मैं अविकार चेतना प्रकाशमात्र हूं, उसको हैरानी नहीं होती। तो परपदार्थका जितना सम्बन्ध है वह बन्ध है, दुःखका कारण है, भारी अहित करने वाला है। जन्ममरण करते रहें इससे बढ़कर और क्या अहित कहलाता ? यहाँ तो लोग १० पैसेका भी वियोग हो तो सोचते हैं कि हमारा अहित हो गया। अरे तीन लोककी सम्पदा भी कहीं जाये, कहीं रहे, उससे भी अहित नहीं है। हमारा अहित है इस कर्मस्वरूपको अपनानेमें। हमारा हित है आत्मस्वरूपको अपनानेमें। यही तो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित स्वसमय है,

याने निज स्वरूपको जिसने अपनाया सो स्वसमय और कर्म-प्रदेशमें स्थित अर्थात् कर्मोदयजनित जो नारकादिक व्यपदेश हैं उन रूप अपनेको मानने वाला परसमय है। तो स्वसमय शान्तिका उपाय है, परसमय जन्ममरणका उपाय है। तो जन्म मरण होता है, इससे बढ़कर और कुछ अहित नहीं। अपने आपमें ऐसी करुणा लाना चाहिए कि मेरा जन्ममरण छूट जाय। जन्ममरण कब छूटे ? अब निजका जो सहजस्वरूप है उसका ध्यान लायें तो जन्ममरण छूटे। जैसा ध्यान लाये वैसा पायगा। जैसे लोग गरुड़का ध्यान बनाते, गरुड़ पक्षीका ध्यान कर रहे हैं तो वे अपनेमें गरुड़पना अनुभव करने लगते हैं। तो जैसे बाहरी पदार्थ ध्यानमें रत रहें उस अनुरूप अनुभव बनता है। तो ऐसे ही जब हम मैं मनुष्य हूं, मैं धनिक हूं, मैं व्यापारी हूं, मैं अमुक ढंगका हूं, अमुक पोजीशनका हूं, ऐसा जब भीतरमें अनुभव चलता है, भीतरमें प्रतीति चलती है तब इस जीवका अहित है और मैं सबसे निराला विशुद्ध चैतन्य-प्रकाश हूं, जिसको यहाँ कोई नहीं जानता। हमारे सम्पर्क समागममें रहने वाला कोई भी पुरुष नहीं जानता मेरे इस विशुद्ध चैतन्यप्रकाशको। ऐसा मैं सबसे अपरिचित, सबसे निराला एक सहज चैतन्य प्रतिभासमात्र हूं। ऐसी जो श्रद्धा लायगा उसको कष्टका कहाँ काम रहा ? कष्ट तो तब है जब ममता जगती है। मेरा घर है, बच्चा है, अमुक है, इस प्रकार

का जब भीतरमें ममत्वभाव जगता है वही क्लेश है, वही अहित है, और अपने स्वरूपकी भावना बने, मैं तो एक चैतन्य प्रकाश हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है, स्वरूप ही मेरा सर्वस्व है मैं कहीं कुछ नहीं करता, अपने स्वरूपमें ही अपनी परिणति करता, ऐसा जब कोई पुरुष अपने अन्तःस्वरूपमें अनुभव बनाता है बस उसका कष्ट समाप्त हो जाता है। हुआ क्या? अविकार निज अन्तःस्वरूपकी आराधना की है उसने। तो इसी अविकारस्वरूपका परिचय हो इस प्रकारसे अपनेको अविकारस्वरूपके रूपसे ध्यान करना चाहिए। पर्याय भले ही हमारी कषायरूप चलती है, विकार बन रहा है, मगर ध्यास हम विकारका न करें। ध्यान करें हम अविकार चैतन्य-स्वरूपका। तो ये विकार हमारे कट सकते हैं। विकारका अनुभव बनायें तो विकार न कटेंगे। यह ही निर्णय है कि परका सम्बंध तो अहित है, और परमब्रह्मका जो दर्शन है सो ही हित है।

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन मुनिमनसंचारी।

७५—अज्ञानकी अस्वभावरूपता—किस स्वरूपको हम दृष्टिमें लें कि हमारा उद्धार हो, वह स्वरूप है अविकार, सहज चैतन्यस्वरूप। भले ही अग्निका संयोग पाकर पानी गर्म हो गया और उस गर्म पानीमें ठंडा जरा भी नहीं है, पिये तो गर्म पानीसे जीभ जले, ऐसा गर्म पानी होनेपर भी जैसे पानी

व। स्वभाव ठंडा ही कहा जाता है। ठंडा कहाँ दिख रहा है?
ठंडा जरा भी नहीं है, गर्म हो रहा है, स्पष्ट सामने बात है,
फिर भी पानीका स्वभाव ठंडा ही कहा जाता है। निमित्त
कारण-कलाप हटे, नैमित्तिक उष्णता दूर हो, वहाँ ठंड उत्पन्न
हो गया। तो चीजके हटनेसे जो चीज विकसित होती है वह
है स्वभाव और दूसरी चीजके सन्निधानमें जो बात बनती है
वह है विभाव। गर्मीका संयोग हटे तो जलमें ठंडापन आये।
गर्मीका संयोग हुआ तो जल गर्म होनेपर भी जलका स्वभाव
ठंडा है, ऐसे ही वर्तमानमें हम आप कषायवान होनेपर भी,
कषायवान चलनेपर भी, विकार होते रहनेपर भी आत्माका
स्वभाव विकारका नहीं, किन्तु अविकार चैतन्यप्रतिभास है।
ये विकार दो प्रकारके होते हैं, एक हमारी बुद्धिमें आये, समझ
में आये जिसे कहते हैं अविकार, और एक हमारी बुद्धिमें आते
नहीं, मगर विकार होते ही रहते हैं उन्हें कहते हैं अव्यक्त
विकार। जैसे जिस काँचके पीछे मसाला लगा है, उसका नाम
कहलाता है दर्पण, उसमें तो प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है और
जिस काँचके पीछे मसाला नहीं लगा, प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता
है, मगर वह प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता, ऐसे ही जब इन
बाहरी पदार्थोंका उपयोग चलता है, इन बाह्य वस्तुओंमें लक्ष्य
जाता है तब तो होता है व्यक्त विकार और जब इस बहिरंग
विकारमें लक्ष्य नहीं जा रहा, लेकिन कषायका उदय है तब

होता है भीतर विकार, अव्यक्त विकार। तो विकार कोईसा भी मेरा स्वभाव नहीं, मेरा स्वभाव है केवल शुद्ध चेतना वृत्ति। तो उस अविकार स्वभावको आराधनामें ही अपनी सिद्धि होती है, वह स्वभाव है ज्ञानमूर्ति।

७६—**ज्ञानमूर्ति अन्तस्तत्त्वकी आराधना**—यह आत्मा ज्ञानमूर्ति है अर्थात् जिसकी मूर्ति ज्ञान ही है, जिसकी मुद्रा ज्ञान ही है, जिसका लक्षण व शरीर ज्ञान ही है, मैं आत्मा हूं ज्ञान शरीरी। ज्ञान ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानस्वरूपके अनुभवके द्वारा ही हम आत्माका परिचय करते हैं। मैं ज्ञान ज्ञान हूं, जरा अनवच्छिन्न धारासे इस ज्ञानस्वरूपकी भावना बढ़े तो मैं ज्ञान ही ज्ञान हूं, कहाँ है ज्ञान, किसमें है ज्ञान? ये विकल्प छोड़ें, किन्तु ज्ञानस्वरूप ही ज्ञानमें लायें, ज्ञान ज्ञान शुद्ध चेतना प्रकाश ज्ञानमात्र। ऐसे ज्ञानमात्रपर यदि निरन्तर दृष्टि बनी रहे तो उसे आत्माका अनुभव होता है। आत्माका अनुभव क्या? जिस समय हम परपदार्थोंको जानते हैं उस समय तो होता है विकल्प अनुभव, परका अनुभव नहीं होता। अगर हम धन, मकान, वैभवमें रम रहे हैं, आसक्त हो रहे हैं तो कहीं अनुभव धन मकानका नहीं बनता, विकल्पका अनुभव बनता है। मकान तो प्रकट परपदार्थ हैं, मुझसे अत्यन्त भिन्न क्षेत्रमें है। उनका अनुभव मैं कैसे कर सकता हूं? उनके बारेमें जो मैं कल्पनाय करता हूं उन कल्पनाओंका अनुभव चलता है। तो

पर लक्ष्यमें तो होता है विकल्पका अनुभव और स्वलक्ष्यमें होता है आत्माका अनुभव, मगर स्वलक्ष्य कैसे? वह स्व जो समयसार है, जो निश्चयनय व्यवहारनय दोनों विकल्पोंसे अतीत है, परे है, ऐसा ज्ञानमात्र आत्मख्याति मात्र जो अनुभव है वहाँ हुआ आत्माका अनुभव तो यह बनेगा इस आधारसे कि अपनेको ऐसा निरखें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ज्ञान ही हूं, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मुद्रा है, ज्ञान ही ज्ञान मैं हूं, ऐसी बार-बार भावना बनायें, भीतर दृष्टि बनायें तो आत्माका अनुभव बनेगा। यह अविकार ज्ञानमूर्ति है। इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वके ध्यानका क्या फल? इसके ज्ञानमें, इसके ध्यानमें, ज्ञान ही ज्ञानमें ज्ञेय हो जाता है। जहाँ ज्ञान ही तो जानने वाला है और ज्ञान ही जाननेमें आया हुआ है, ऐसा जहाँ मेल है, ज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान ही ज्ञेय, ऐसा जहाँ मेल बनता है वहाँ विकल्प नहीं रहता। विकल्प हुआ करता है पर लक्ष्यमें, परभावकी प्रीतिमें विकल्प चलता है। ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वकी प्रीतिमें विकल्प नहीं चला करते। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही ज्ञान हूं। अहो श्रद्धामें कितना अपूर्व बल है और उसके प्रयोगमें कितनी अद्भुत शक्ति है? अपनेको ज्ञान ज्ञान रूपमें निरखें, इसका इतना माहात्म्य है कि जैसे कहते हैं सर्वसिद्धि सर्वसमृद्धि हो जायगी। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसका फल है निर्विकल्प आत्माका अनुभव। इस ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका फल है कर्मों

की निर्जरा। एक णमोकार मंत्रका ही श्रद्धान हुआ था अंजन चोरको और वह भी शुद्ध शब्दोंमें नहीं बोल सकता था, बस आणं ताणं ही बोल रहा था, मगर उसकी दृष्टि रही कि मैं किसी प्रभुके लिए बोल रहा हूं, उसी श्रद्धाका इतना माहात्म्य रहा कि उसे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई। फिर आगे बढ़ा ज्ञान बढ़ा, उससे मोक्षमार्ग मिला। तो वह प्रभु क्या है जिसकी श्रद्धाका इतना फल मिला? वह प्रभु ज्ञानमूर्ति है और वही मेरा स्वरूप है। प्रभुका दर्शन कैसे होता, प्रभुका मिलना कैसे होता? इस ही ज्ञानमूर्तिके नातेसे। प्रभु ज्ञानमूर्ति हैं, मेरा स्वरूप ज्ञानमात्र है, प्रभुकी आराधनामें स्वरूपकी आराधना बनती है, स्वरूपकी आराधनामें कर्मकलंक ठहर नहीं सकते। इस ज्ञानमूर्ति अन्तस्तत्त्वकी आराधनाका फल है विशुद्ध ज्ञान रूप रह जाना। यहाँ आकुलताका काम नहीं है। आकुलता है विकल्पके अनुभवमें, स्वभावके अनुभवमें आकुलता नहीं होती। ऐसा ज्ञानमूर्ति मैं अन्तस्तत्त्व हूं, ऐसा अविकार ज्ञानस्वभाव जयवंत हो।

७७—सत्य अन्तस्तत्त्वकी उपासना—हे ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्त्व तेरा विकास हो, तू ही सत्य है। सत्य तो सभी चीजें हैं, विकार भी सत्य हैं पर्याय भी सत्य है, उल्टा भी जो परिणमन है वह भी सत्य है। तो उल्टा परिणमन झूठ तो नहीं लेकिन सनातन सत्य होना, सहज सत्य होना उसे कहते हैं

सत्य। यह अविकार ज्ञानस्वभाव सहज सत्य है। सत्यका अर्थ है सत्में निरपेक्षतया अपने आपमें स्वभावतः जो भाव होता है उसे कहते हैं सत्य। वह भाव है विशुद्ध चैतन्यस्वरूप। यह अविकार ज्ञानस्वभाव सत्य है, भूतार्थनयका विषयभूत है। शाश्वत सत्य है भूतार्थनयका विषय। है। जब यह मैं हूं तो मेरा स्वयंका भी तो कोई सत्य है, स्वरूप है, मेरा स्वयंका मेरे ही सत्त्वके कारण जो मेरेमें स्वरूप है वह कहलाता है सत्य। सत्य है यह अविकार चैतन्यस्वरूप। जिसको ॐ शब्दके द्वारा वाच्य माना गया है। ॐ जिसको कि अपने आपके प्रयोगके बलसे दृष्टिमें लिया गया है, ऐसे है सत्य अविकार स्वभाव जयवन्त होवो। इस सत्य अविकार स्वभावकी आराधनाका फल क्या है? इस आत्मामें सत्य शुद्ध परिणमन होने लगता है। जो सत्यकी आराधना करेगा उसका परिणमन सत्य होगा। यह जीव अनादिकालसे अब तक असत्यकी आराधना करता चला आया। असत्य मायने अभाव नहीं कि है ही नहीं। अनादिसे यह विकाररूप है, उसकी आराधना करते आये। अशुद्ध अवस्थामें है, मगर इसे असत्य यों कहते हैं कि यह निरपेक्ष भाव नहीं है, सापेक्ष है, औपाधिक है, नैमित्तिक है। इस विकारको सत्य नहीं कहते। यों असत्यकी आराधनामें ही अब तक समय गया और अनंत काल इस भवभ्रमणमें समय गया। अब असत्यकी आराधना तजकर सत्यकी आराधना करें।

उसका फल क्या है ? इस आत्मामें स्वभावके अनुरूप पर्याय चलने लगेगी अर्थात् इस सहज सत्यमें सहज सत्य परिणमन चलने लगेगा। जो स्व प्रत्ययक है, किसी परका निमित्त पाकर नहीं होती है अपने ही सत्त्वके कारण अपनेमें प्रकट होता है ऐसा शुद्ध परिणमन केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तआनन्द—ये परिणमन प्रकट होते हैं, इस अविकार सत्य स्वरूपकी आराधनासे हे सत्य अविकार स्वरूप जयवन्त हो।

७८—**सनातन अन्तस्तत्त्वकी आराधना**— यह अंतस्तत्त्व अविकार है, ज्ञानमूर्ति है, सत्य है और सनातन है, अनादि अनन्त है। जिसका न कोई कारण हुआ, जो कभी कारणपूर्वक नहीं है। जो कारणपूर्वक है, वह सनातन नहीं होता। स्वभाव तो अहेतुक है, यह समयसार अहेतुक है, सनातन है। यह ओघ उपादान अनादि अनन्त है। अब तक इस जीवने अध्रुव भावकी ही आराधना की, और काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, विकल्प, विचार तर्क इनकी ही इस जीवने आराधना की। अध्रुवकी आराधनाका फल क्या हुआ कि यह अध्रुव रहा आया, इसका परिणमन बस विनाशीक, मिटता जाता, उत्पन्न होता, ऐसा रहा तो यह इसी चक्रमें बना रहा। उत्पन्न हुआ, मिटा, आकुलता करता रहा, विह्वल होता रहा, कब तक ? अज्ञानको उपासना तक। अध्रुवभावकी उपासना तक। इस विकारको ही 'यह मैं हूं' ऐसा मानता

रहा, अन्यथा दुःख क्यों होता ? कोई जीव यदि बुरा मानता है, कष्ट मानता है तो समझो कि उसके अध्रुवभावके साथ सम्बंध लगा है। ममता है, विकार है, जो मेरे कुल के अनुचित है उससे प्रीति है। इसीलिए कष्ट है। मेरा तो कुल वह है जो प्रभुका कुल है। चिदानन्दस्वरूप प्रभुका कुल है। जब अपने कुलकी बान छोड दी तो यह जीव कष्टमें रहता है। मेरा कुल है चैतन्यस्वरूप। यदि उस चैतन्यकुलके अनुरूप अपने आपको ढाला होता तो वहाँ कष्टका कोई काम न था। अपने कुलके विपरीत विकल्प-कलंकोंको अपनाया, उसमें आत्मत्वकी भावना की, इसीको मैं अब तक धारण करता रहा। मेरा स्वरूप है सनातन अनादि अनन्त नित्य अन्तःप्रकाशमान। जिन खोया तिन पाया। पर यह खोजनेके लिए बड़े-बड़े बलिदान करने पड़ते हैं। पर्यायमें अहंबुद्धिका बलिदान, कषायोंसे चिपटनेका बलिदान, अपनेको किसी रूप माननेका बलिदान। एक सहज अविकार रूपमें अनुभव बने, यह परिणति होती है तो उसे सिद्धि है। इस सनातन अविकार चैतन्यस्वभावकी आराधनाके फलमें इस जीवको ऐसी शुद्ध परिणति मिलती रहेगी कि जिसके तांताका कभी अन्त नहीं होता। भगवानके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रति समय वही वही होते रहते हैं और इनका कभी अन्त नहीं आनेका, क्योंकि स्वाभाविक विकास है आत्माके सहजस्वरूपका विकास। ऐसा

सनातन अविकार स्वभावकी आराधनासे सत्य सनातन निरन्तर चल रहे हैं, ऐसी पर्याय प्रकट होती है । हे सनातन अविकार स्वभाव जयवंत हो ।

७९—अन्तस्तत्त्वकी मुनिमनसंचारिता—यही अविकार स्वभाव मुनियोंके मनमें निरन्तर रहता है । क्या वजह है कि मुनि जंगलमें हैं, अकेले हैं, परिवार नहीं, कोई पूछने वाला नहीं, ऐसा एकान्तमें हैं, और फिर भी मन स्थिर है, बुद्धि स्थिर है, धीर है, आनन्दमग्न हैं, वह कौनसी चीज है ? क्या उन्हें मिल गया कि जो आनन्दमग्न रहा करते उन्हें मिल गया यही अविकार चैतन्यस्वरूप । उनके मनमें बस रहा है यही अंतस्तत्त्व । मुनिजनोंको रुचि और प्रीति है इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वसे, जिसको निरखते हुए निरन्तर प्रसन्न रहते हैं, यह अविकार चैतन्यस्वरूप है । मुनिमन संचारी, मुनियोंके मनका संचरण करने वाला । मुनियोंका मन उज्ज्वल होता है । जब किसी निर्मल पानीकी प्रशंसा की जाती तो मुनियोंके मनकी उपमा दी जाती है—सुनिमनसम उज्ज्वल नीर । कोई रंग नहीं, तरंग नहीं, उपाधि नहीं, मल नहीं, ऐसा पानी । जैसे यह दिखता है ऐसे ही मुनिमन उपाधिरहित, रागद्वेष भावना रहित, संकल्प विकल्प रहित, केवल यह ही अन्तस्तत्त्व उनके चित्तमें है, ऐसी पूर्णताका आदर है । यही वजह है कि वे निरन्तर उपद्रवमें, उपसर्गमें रहकर भी प्रसन्न रहा करते

हैं । उपद्रव और उपसर्ग तो मुनियोंके मित्र है, क्योंकि उपद्रव, उपसर्ग, कष्ट इनके रहते हुएमें इस अन्तस्तत्त्वके दर्शनकी बड़ी सुलभता रहती है । और जहाँ प्रशंसा मिले, मौज मिले, आराम मिले, सेवा मिले तो सम्भव है कि गृहस्थकी तरह वह भी मौजकी सुध करके स्वरूपकी सुध छोड़ दे । तो कष्टका आदर है मुनियोंके, इसी कारण उनका मन इतना स्वच्छ है कि किसी जीवके प्रति न राग है, न विरोध । जीवका वह ज्ञानमूर्ति स्वरूप उनकी दृष्टिमें है । ऐसे मुनिमन संचारी, हे अविकार ज्ञानस्वभाव जयवंत हो, जयवंत हो ।

निर्विकल्प शिवनायक शुचिगुण भंडारी ।

८०—अंतस्तत्त्वकी निरंतर ज्ञानियोंके उपयोगमें रम्यता—सभी जीव कहीं न कहीं निरन्तर अपना उपयोग लगाये रहते हैं । संसारमें ऐसा कोई प्राणी न मिलेगा जो कहीं उपयोग नहीं लगाये है और जो संसारसे छूट गए हैं उनका उपयोग तो बिल्कुल प्रकट है । जहाँ तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ बिना चाहे, बिना प्रयास किए स्वत: ही झलक गए हैं । यहाँ हम आपकी बात देखना है । हम आप लोगोंमें सभी भाई कहीं न कहीं उपयोग लगाये रहा करते हैं । इसके अतिरिक्त और कुछ काम नहीं करता, कुछ कर ही नहीं सकता । बाहर के पदार्थ बाह्य हैं, उनसे मुझमें कुछ नहीं आता, मुझसे उनमें कुछ नहीं जाता । इसी तरह जीव जीव भी सब जुदे-जुदे हैं ।

किसी जीवका कुछ दूसरेमें नहीं जाता, दूसरे जीवका कुछ नहीं आता। हाँ सब अपना-अपना उपयोग बनाते हैं और जो जैसा उपयोग बनाता है उसके अनुसार वे शान्ति और अशान्ति पाते हैं। बस इस अपने आत्माकी फैक्टरीमें दो ही काम हो रहे हैं। कहीं न कहीं उपयोग लगाते और उसके फलसे शांति या अशांति पाते, इसके सिवाय और कोई कुछ नहीं कर रहा है। वास्तविकता यह है। तो हम अशान्तिसे हटें, शान्तिमें आयें, इसके लिए यह उद्यम करना होगा कि हम अपना उपयोग ऐसी जगह लगायें कि जहाँ शान्ति मिले। जहाँ अशान्ति हो, ऐसी जगहमें हम अपना उपयोग न लगायें। शान्ति कहां है? मेरे स्वरूपमें। मेरा जो शाश्वत सहजस्वरूप है वह स्वतः शान्त है, स्वभावतः शान्त है। कर्मोदयकी स्थितिमें अशान्ति होती है तो वह स्वरूप इसका शान्त है, क्यों शान्त है कि स्वरूप इसका अविकार है। बस प्रतिभास यही इसका निजी रूप है। तो ऐसा अविकार शान्त स्वरूप है। इसका उपयोग रहे, फिर कोई गम नहीं, कोई कष्ट नहीं। जब कभी किसी कारण से कोई विकल्प हो, विह्वलता जगे, आकुलता मचे तो यही उपाय करना कि झट अपने आत्माके सहजस्वरूपका ख्याल बनायें तो शांति मिलेगी। तो मेरा जो सहजस्वरूप है वह कैसा है? ज्ञानमूर्ति, ज्ञान ही ज्ञान जिसकी मूर्ति है, ज्ञान सिवाय और मैं कुछ नहीं, यही स्वरूप सत्य है। मेरेमें अपने आप ही

प्रकट है। यह स्वरूप अनादि अनन्त है और बड़े-बड़े योगीश्वर मुनि जन इस ही स्वरूपका ध्यान रखते हैं तब ही वे प्रसन्न रहते हैं, कर्मोंको काटते हैं, शान्त रहते हैं। ऐसे ही अविकार स्वरूप तुम जयवन्त हो, मेरेमें प्रसन्न होवो। ऐसे अविकार स्वरूपकी भावना ही हम आपको शरण है।

८१—**निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वकी आराधना**—एक ही बात ध्यानमें रखनी है धर्मके लिए, शान्तिके लिए, भविष्य सुन्दर निर्मल बनानेके लिए। बस मेरा जो सहजस्वरूप है वह स्वयं परिपूर्ण है, आनन्दमय है। मेरेको कोई कष्ट नहीं। झट यहाँ ध्यान दें तो विपत्तियाँ दूर होती हैं और विपत्तियाँ भी क्या हैं? विकल्प। कोई बाहरी पदार्थ मिट जाय, कुछ हो जाय वह कोई विपदा नहीं, किन्तु जो विकल्प बनाये रहते हैं वह विपदा है। जब विपदा आये तब झट इस अविकार स्वरूपका स्मरण करना। यह मैं अविकार सहजस्वरूप स्वतः आनन्दमय हूं। ऐसा यह मेरा स्वरूप निर्विकल्प है। विकल्पमें कष्ट है, निर्विकल्प स्थितिमें आनन्द है। यह एक संसार जुवेका फड़ है मानो। ये लोग दिखते हैं तो लोग क्या हैं? सभी मोहप्रेरित हैं, पर्यायमूढ़ हैं। देहमें आत्मबुद्धि हैं, उनको देखकर यहाँ कल्पनायें जगती हैं। मैं सबमें अच्छा कहलाऊँ। लोग मेरी प्रशंसा करें, कहीं मेरी निन्दा न हो आदिक विकल्प जगते हैं, क्योंकि यहाँ देखते हैं लोगोंको तो यहाँ विकल्प जगते हैं। अरे

अपनेको देखो, वहाँ विकल्पका काम नहीं, स्वरूप देखो।

८२—विकल्पकी हेयताका एक चित्रण—मानो सारा संसार प्रशंसा करे तो उनसे कुछ यहाँ मिलता है क्या? उनका भाव, उनका स्वार्थ उनका उनमें परिणमन जो हुआ सो हुआ। सारा जगत प्रशंसा करे तो भी उससे मेरेको क्या लाभ? बल्कि प्रशंसा सुनकर जो हमारा चित्त मौज मानेगा तो वहाँ मेरा पतन है, बरबादी है, कर्मबन्धन है, संसारमें रुलेंगे। तो कोई सारा जहान भी प्रशंसा करे, उससे मेरेको कोई लाभ नहीं। खूब विचार लो। हम ही ज्ञानी बनें, ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें लें और ऐसा ही ज्ञान प्रयोग करें तो उससे मेरेको लाभ है, संसारसे मेरेको लाभ नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी सोचो—सारा जगत निन्दा भी करे तो उनकी इस निन्दाके परिणमनसे, उनकी इस मन, वचन, कायकी चेष्टासे क्या मेरेको नुक्सान है कुछ? वहांसे मेरेको क्या आयगा जो चोट पहुंचे? उनका ख्याल, उनका भाव, उनका परिणमन उनमें ही है, और उससे जो होना है सो उनका होता है, मेरा कुछ नहीं हुआ है। सारा लोक भी निन्दा करे तो उससे मेरी बरबादी नहीं, किन्तु मैं ही स्वभावसे चिगकर देहमें आत्मबुद्धि करके ऐसा ख्याल बनाऊँ कि लोग मेरेको क्या कहते हैं बस दुःखी हो जायेंगे। दूसरेने दुःखी नहीं किया, किन्तु खुदके विकल्पने दुःखी किया। अरे हे प्रशंसा करने वाले अथवा निन्दा करने वाले! क्या इस

ज्ञानमूर्ति मुझ अन्तस्तत्त्वको पहिचानते हैं? कुछ नहीं पहिचानते। फिर मुझको क्या कष्ट? ज्ञानी पुरुष सही वस्तुस्वरूप जानता है, इसलिए निर्विकल्प रहता है, अपने मार्गपर चलता है।

८३—निश्चिन्त होकर निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वकी आराधनाका कर्तव्य—मेरा हित किसमें है, किस मार्गपर चलना है? निज सहज चैतन्यस्वभाव उसमें ही मानना कि यह मैं हूं, उसको पकड़ लें, पार हो जायेंगे। मैं क्या हूं, इसकी सही समझ बना लें, फिर चाहे कर्मकृत कितने ही उपद्रव आयें, कितनी ही विपदायें आयें तो वे हमारे भलेके लिए आती हैं, हमारे पूर्वकृत कर्मकी निर्जरा करनेके लिए आते हैं। अपने आपका निर्णय सही बना लें और उस ही में ऐसा डट जावें कि मैं यह हूं, इससे कभी न चिग सकें। चाहे दुनियामें कितना ही चमत्कार दिखे तो भी उनके लुभावमें न आयें। चाहे मुझ पर कितने ही उपद्रव आयें, फिर भी हम उन्हें कुछ महत्त्व न दें। अपने सहज शान्त स्वरूपको देखें, फिर कोई कष्टका काम नहीं। सबसे कठिन विपदा इस जीवको है तो यह है कि जो शरीरमें यह मैं हूं, ऐसी बुद्धि बनाये है। जो शरीरमें आत्मबुद्धि बनाये सो अज्ञानी। वह संसारसे पार नहीं हो सकता। यह शरीर मैं नहीं, मैं तो एक शुद्ध चैतन्य प्रतिभासमात्र हूं। इस बातपर डट जाय कोई तो कैसे सम्यक्त्व न होगा? कैसे

उत्थान न होगा ? हाँ अपने स्वरूपमें कोई डटा है उसकी
पहिचान है बेपरवाह होना, निश्चिन्त रहना, फिक्र न होना,
अधीरता न आना, विकल्प न मचाना । जो जैसा है,
जैसा परिणमन करता है वह उसका रूप है, उसका स्वरूप
है । मैं तो यह सहज विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूं । बहुत बड़ा
तपश्चरण है यह जो अपने उपयोगको अपने स्वरूपमें लगायें ।
मैं सहज ज्ञानप्रतिभास मात्र हूं । सारा भय मिटता,
सारा संकोच हटता, अपनी सुबुद्धि जगती एक आत्मस्व-
रूपके अनुभवसे और तब ही स्पष्ट रूपसे यह ज्ञात होता
है कि मैं निर्विकल्प हूं, मेरा स्वरूप निर्विकल्प है । कोई भी
चीज हो, अपने आप अकेलेमें तो वह पवित्र ही है । जैसे यह
काठ है तो यह स्वयं अपने आपमें जैसा था सो है । अब इसके
ऊपर पालिश कर दी गई या कूड़ा लग गया तो यह बाहरी
रूप तो अशुद्ध है, मगर भीतरमें अपनेमें अकेलेमें तो यह वही
है जो है । जरा ऐसा अपने आपमें तो देखो, मैं अपने आप
अकेला जैसा हूं ज्ञानस्वरूप सो अविकार हूं, कष्टरहित हूं । पर
सम्बंध बना ना कर्मका, शरीरका और विकल्प लगा और
इससे मैं बरबाद हो गया । स्वरूप तो मेरा ऐसा है जैसा कि
भगवानका । स्वभावमें कोई अन्तर नहीं, बस उपयोगकी गति
का खेल है सब । परमें उपयोग लगाया । सारे संकट सहना
होगा । निर्विकल्प चैतन्यस्वरूपमें उपयोग लगाया तो मंगल

भरी हो, कुछ भी भरी हो तो वह खाली हो सकता है, हो
जाता, होता ही है, पर अपने आपके सहज पवित्र गुणोंका जो
यह भंडार है, यह कभी मिटेगा नहीं स्वरूपमें, स्वभावमें,
दृष्टिमें तो यह सहज परमात्मतत्त्व सदा ही रहता है । यह मैं
आत्मा पवित्र गुणोंका भंडार हूं, निश्चित भंडार हूं, क्योंकि
ये गुण कोई अलग चीज नहीं हैं जो धनकी तरह कमाया गया
हो । धनको भी कोई कमाता नहीं, पर जैसा उदय हुआ उसके
अनुसार प्राप्त होता है । मैं तो सिर्फ उसके प्रति अनेक प्रकार
के विकल्प बनाता हूं । मैं तो स्वरूपसे पवित्र गुणोंका भंडार
हूं ।

८६—कायरता तजकर ज्ञानसमृद्धिबल विकसित करने का अनुरोध—देखो अपनेको कायर अनुभव मत करो, विवश
अनुभव मत करो । स्वरूपको निहारो, विवशता किसकी ?
जब इन्द्रिय विषयकी आशा रखे तो विवशता होती है । जब
मैं स्वरूपको देखता हूं तो वहां विवशता नहीं है । मैं पवित्र
गुणोंका भंडार हूं । प्योर पवित्रको कहते हैं, पर पवित्र बनता
कैसे है ? केवल रहनेमें । प्योरका वास्तविक अर्थ है केवल,
सिर्फ, वही वही रह जाय, बस यही कुञ्जी है पवित्र होनेकी ।
मैं आत्मा स्वरूपतः जैसा हूं सो ही रह जाऊँ, इसीमें पवित्रता
है । परका सम्बंध अपवित्र करता है और केवलका विकास
पवित्र बनाता है । हम बाहरी पदार्थोंमें संसर्ग बनाये हैं, इस-

छूट जायेंगे। कर सकते नहीं हम अन्य कुछ सिवाय उपयोग लगानेके। किसी बाहरी चीजको हम छू सकते नहीं, पकड़ सकते नहीं। कभी हाथसे चीज पकड़ें तो भले ही निमित्त तो जीवका भाव है, मगर साक्षात् पकड़में आया कोई पदार्थ तो उस पुद्गलका निमित्त पाकर पकड़में आया। पुद्गल पुद्गलसे छुवा गया। जो आत्मतत्त्व है वह तो अमूर्त है, ज्ञानमात्र है, वह तो किसी वस्तुको छूता नहीं, पर बिगाड़ है तो खोटे भाव से बिगाड़ है। मैं तो स्वरूपमें निर्विकल्प हूं। इस निर्विकल्प स्वरूपका ध्यान करनेका फल क्या है कि इसकी पर्याय भी निर्विकल्प हो जाती है। निर्विकल्पका ध्यान करनेसे परिणमन भी निर्विकल्प होता है, और असत्यका ध्यान करें, विकल्पका ध्यान करें तो शान्ति नहीं मिलती। आकुलता नहीं हटती। ऐसे हे निर्विकल्प अविकारी ज्ञानस्वरूप तुम जयवन्त हो।

८४—सहज ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनाकी शिवनायकता—कामकी बात एक सुखमें हो तब, दुःखमें हो तब दृष्टि बंद करके, मनके ख्याल तजकर अन्दरमें यह अनुभव करे कि मैं सहज ज्ञानमात्र हूं, मेरा कोई पहचानने वाला तक भी नहीं। जो देखना है सो इस जड़को देखता है। मेरेको कोई नहीं देखता। जो व्यवहार करते तो जड़से करते, मेरेसे कोई व्यवहार नहीं रखता। मैं तो सबसे अछूता ज्ञानमात्र हूं, निर्विकल्प हूं। यही मेरा स्वरूप शिवनायक है, यही मोक्ष ले

जाने वाला है। अब देखो यह स्वरूप अनादिसे है, पर क्यों नहीं मोक्षमें अब तक ले गया? जब मेरा स्वरूप शिवनायक है, मोक्षमें ले जाने वाला है तो क्यों न अब तक मोक्ष हुआ? उसका कारण यह है कि इस उपयोगने ऐसा ध्यान तो न रखा। भले ही मेरा स्वरूप शिवनायक है, पवित्र है, कष्टरहित है, पर अपने उपयोगसे ऐसा ध्यानमें तो नहीं लिया कि मेरा स्रोतभूत जो यह आत्मा है वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। ऐसा ध्यानमें नहीं लिया। बाहर-बाहरमें ही इसने अपना उपयोग लगाया, बाह्यमें जो उपयोग जमाया सो दुःखी होता है। जो निज सहजस्वरूपमें उपयोग रमाये सो दुःखी, अशान्त, अधीर होता है। एक ही अभ्यास बनायें। सारे जीवन भर अभ्यास चलायें। मौजमें हो तब, कष्टमें हो तब, मैं सहज ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र हूं। मैं विकल्प नहीं, मैं देह नहीं, मैं और अन्य नहीं, किसीसे मेरा सम्बंध नहीं। कैसा विचित्र प्रकाश है ज्ञानी का? लोग गाली दे रहे अथवा उपसर्ग कर रहे और साधु संत अपने कर्मविपाकको देखकर भीतर हँस रहे, निर्जराको प्राप्त हो रहे कर्म। मेरी कोई हानि नहीं किसी परकी प्रवृत्तिसे। मैं तो यह सहज आनन्दस्वरूप हूं। मेरेमें कोई अन्तर नहीं है। उस अपने मजबूत किलेको सम्हाला है ज्ञानीने, कोई आकुलता उसे नहीं होती। ऐसे स्वरूपको कोई देखे, आलम्बन ले तब ही तो मोक्षमें जायगा। स्वभाव तो शिवनायक है, वही मोक्ष है,

वही मोक्षका पात्र है, मगर इसकी सम्हाल न करें, दृष्टि न दें, उस रूप अपनेको न मान सकें तो यों तो मोक्ष न होगा। मेरा स्वरूप शिवनायक है, ऐसे हे शिवनायक अविकारस्वरूप जयवन्त हो। जैसे बच्चेको कोई कष्ट आये, कोई डांटे, आंख दिखाये तो बस उसका एक ही काम है—माँ की गोदमें पहुंच जाना और अपनेको निर्भय अनुभव करना, बस अपनेको क्या डर ? मैं माँ की गोदमें तो हूं। तो जैसे बच्चेका एक ही निर्णय है—माँ का सहारा लेना, ऐसे ही ज्ञानीका एक ही निर्णय है कष्टोंसे बचनेका—अपने सहजस्वरूपका आलंबन लेना, पहिचानना। तो जो अपने स्वरूपकी गोदमें आये उसे फिर कोई कष्ट नहीं रहता। मेरा स्वरूप तो शिवनायक है। नायक उसे कहते हैं जो खुद भी चले और दूसरोंको भी ले जाय। अब स्वरूपमें देखिये—जब मुक्ति मिलती है तो वहाँ क्या हुआ ? स्वरूप ही तो मुक्त हुआ कर्मसंकटोंसे, और यों कह दीजिए कि हमारा उपयोग मुक्त हो गया विकल्पजालसे। ऐसा मेरा स्वरूप ही शिवनायक है, फिर अधीर होनेकी बात क्या ? घबड़ानेकी बात क्या ? हे शिवनायक अविकार चैतन्यस्वरूप जयवत हो। यह अपने स्वरूपकी बात चल रही है। हमें वहाँ दृष्टि ले जानी है, जहां हमें अपना उपयोग रमाना है उसकी चर्चा की जा रही है। अपने स्वरूपको देखो—जब मैं हूं तो मेरा स्वरूप भी है। वह सहजस्वरूप मेरा क्या है ? चैतन्य

प्रतिभास। जो भी है वह हमारे ज्ञानमें आये, बस यही मेरा काम है और यहीं मेरेको शान्तिका अनुभव है।

८५—शुचिगुणभंडारी अन्तस्तत्त्वकी आराधना—यह मेरा स्वरूप है पवि त्र गुणोंका भंडार। हम इन्द्रियके विषयके कायर बनकर अपनेको दुःखी कर डालते हैं, असहाय बना लेते हैं, हाय अब हमारा क्या हाल होगा? हम संसारमें आये हैं, गृहस्थीमें रह रहे तो यहाँ सुखकी आशा क्यों रखते? शान्तिकी आशा क्यों रखते कि यह जंजाल, यह समागम मेरे को शान्त कर देगा, छोड़ा नहीं जा सकता। रहना पड़ रहा, रहो, पर यह सोचकर रहो कि मेरा कुछ वश नहीं चल सकता इस समय, इसलिए मैं गृहमें रह रहा हूं, ऐसा रहनेमें तो सुबुद्धि है और मामूली झोंपड़ी भी है और ममता उसके साथ है कि यह मेरा है तो यह दुर्दशा है और ऐसी दुर्बुद्धि वाले पुरुष कभी शान्त नहीं हो सकते। अपनेको देखें कि मैं पवित्र गुणोंका भंडार हूं, कोई अलग चीज नहीं है, मेरा ही स्वरूप है, पर हम जब लक्ष्य लक्षणका भेद करके चलते हैं चिह्नके द्वारा वस्तुको समझना तो वहाँ शक्ति पैदा हो जाती है दृष्टि में। मैं ज्ञानगुण रूप हूं, आनन्द गुणरूप हूं, अनेक प्रकारके गुणोंमें हम अपनी दृष्टि बनाते हैं, वे सब गुण पवित्र हैं, उन पवित्र गुणोंका मैं भंडार हूं। मेरा स्वरूप तो स्वरूप है और भंडार तो खाली हो सकता है, धन भरा हो, स्वर्ण चाँदी

भरी हो, कुछ भी भरी हो तो वह खाली हो सकता है, हो जाता, होता ही है, पर अपने आपके सहज पवित्र गुणोंका जो यह भंडार है, यह कभी मिटेगा नहीं स्वरूपमें, स्वभावमें, दृष्टिमें तो यह सहज परमात्मतत्त्व सदा ही रहता है। यह मैं आत्मा पवित्र गुणोंका भंडार हूं, निश्चित भंडार हूं, क्योंकि ये गुण कोई अलग चीज नहीं हैं जो धनकी तरह कमाया गया हो। धनको भी कोई कमाता नहीं, पर जैसा उदय हुआ उसके अनुसार प्राप्त होता है। मैं तो सिर्फ उसके प्रति अनेक प्रकार के विकल्प बनाता हूं। मैं तो स्वरूपसे पवित्र गुणोंका भंडार हूं।

८६—कायरता तजकर ज्ञानसमृद्धिबल विकसित करने का अनुरोध—देखो अपनेको कायर अनुभव मत करो, विवश अनुभव मत करो। स्वरूपको निहारो, विवशता किसकी? जब इन्द्रिय विषयकी आशा रखे तो विवशता होती है। जब मैं स्वरूपको देखता हूं तो वहाँ विवशता नहीं है। मैं पवित्र गुणोंका भंडार हूं। प्योर पवित्रको कहते हैं, पर पवित्र बनता कैसे है? केवल रहनेमें। प्योरका वास्तविक अर्थ है केवल, सिर्फ, वही वही रह जाय, बस यही कुञ्जी है पवित्र होनेकी। मैं आत्मा स्वरूपतः जैसा हूं सो ही रह जाऊँ, इसीमें पवित्रता है। परका सम्बंध अपवित्र करता है और केवलका विकास पवित्र बनाता है। हम बाहरी पदार्थोंमें संसर्ग बनाये हैं, इस-

लिए पद-पदपर हम अपनेको दुःखी अनुभव कर डालते हैं। हम दुःखी नहीं हैं जरा भी, अपने स्वरूपको परखें। मैं ज्ञान-ज्योतिमात्र हूं, यह दृष्टि बने प्रयोगात्मक, वहाँ कष्ट कुछ भी नहीं है। तो ऐसा अपना जो सहजस्वरूप है उसकी सुध लें, उसकी शरण आयें, उसकी आराधनामें रहें तो अपना भला है, और स्वको छोड़कर परवस्तुका लक्ष्य करें, वहाँ उपयोग रमायें तो इसमें हमारा अकल्याण है। अपने योग्य गुणमय निज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिकी साधना बनायें। अपना अंतस्तत्त्व इष्ट होता है तो यह सहसा समझ बनाता है कि हे पवित्र गुणों के भंडारी अविकार ज्ञानस्वरूप जयवंत होवो। यह ही यह मेरी दृष्टिमें रहे, यही है धर्मपालन और मोक्षमार्गमें आगे बढ़ने की बात।

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन।

८७—आत्महितका उपाय बनानेके लिये नरजीवनके निर्णयका संकल्प—अनादिकालसे यह जीव अपने ही विकल्पों में रमता चला आया है और इस व्यापारके कारण दुःखी होता आया है और इसका ऐसा ही योग है कि जो विकल्पोंमें रहता है वह जन्ममरण करता है। यों जन्ममरणके नाना दुःख सहता हुआ अब तक अनन्तकाल बीता। जिस भवमें गया उस भवमें जो मिला उसीको लक्ष्यमें लेकर रम गया। यह है इस संसारी प्राणीका इतिहास। जिन-जिन बातोंमें

रमता रहा भव-भवमें, उस भवकी उत्पत्तिके बाद वे चीजें कुछ न रहीं। जैसे अबसे पहले भवमें मैं कुछ होऊँगा तो सही, वहाँ मिला था कुछ न कुछ सही। आज क्या है? पूर्वभवका कोई प्रसंग, कोई समागम धन वैभव कुटुम्ब जो कुछ भी मिला हो वह आज नहीं है, ऐसे ही भव-भवमें सूना रहा और यही बात आज है। जो कुछ समागम मिला है, इस भवके बाद यह कुछ न रहेगा, और यह ममता करके अपने आगेका सब एक जन्ममरण और अनुभव करता है। अब अपनेपर दया आयी हो, अपनेको संसारके संकटोंसे छुटकारा दिलानेका भाव आया हो तो एक ही काम करनेका है कि समस्त अनात्म तत्त्वों से हमको विविक्त बनना है। कोई कठिन बात नहीं है, क्योंकि भीतर ज्ञान द्वारा ही साध्य है यह सब कुछ। इसमें किसीकी आधीनता नहीं है। संसारके कामोंमें तो आधीनता है, रोजगार, व्यापार आदिक आजीविका, गृहस्थी प्रेम हो इन सारे कामोंमें विवशता है, लेकिन मैं आत्मा अपने स्वरूपको जानूं और सबसे निराला रहकर अपनेमें रहूं। इसमें दूसरा कोई विघ्न डालने वाला नहीं है। हम ही विकल्प करके विघ्न डालते रहते हैं। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक योग अवश्य है। कर्मविपाक आता है, उसकी झांकी उपयोगमें पड़ती है, हमारा उपयोग मलिन हो जाता है और स्वभावसे चिगकर उस कर्म मलीमसतामें, नोकर्ममें चित्त लगा देता है और दुःखी होता है

पैर है हमारी परिणति। इतना क्षयोपशम, कुछ ज्ञान हमें मिला तो है। जैसे सम्यक्त्व प्राप्त करनेके लिए ५ लब्धियां बताई गई हैं—तीन लब्धियां मिली नहीं क्या इस समय? क्षयोपशम लब्धि है कि नहीं? जब इतना ज्ञान है, विवेक कर सकते हैं तो और क्या चाहिए क्षयोपशम लब्धिके लिए? क्या अनुरूप विशुद्ध लब्धि नहीं है? हम इतने पवित्र और विशुद्ध परिणामसे रह नहीं सकते क्या? और देशना भी प्राप्त है, उसको धारण करनेकी और ग्रहण करनेकी योग्यता भी है। अपने आत्माकी बात समझना। कौनसी कठिन बात है? खुद ज्ञानस्वरूप हैं और ज्ञानस्वरूपको ही समझना है। कोई ओट नहीं, आड़ नहीं, विघ्न नहीं है। ज्ञान ही ज्ञानस्वरूपको समझ ले, पर आत्मकरुणा हो तो सब बात बन जाती है। मुझे संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा पाना है, ऐसा उपाय बनानेके लिए ही नरजीवन है। और कामोंके लिए यह नरजीवन नहीं है, ऐसा निर्णय हो तो सब मार्ग इसके सामने आ सकता है। यह बात अपने आपके दिलसे पूछ लीजिए। अपने आपका ही उत्तर दे लेवें कि क्या मैंने यह निश्चय कर लिया कि मेरा जीवन है तो एक सम्यक्त्वके लाभ और आत्मा की अनुभूतिके लिए है? हम चाहे कभी कर सकें, पर जीवन इसीके लिए है। बाकी राग भाग। अनेक विकल्प इनके लिए मेरा जीवन नहीं है। ये सब बातें आयें तब हम आत्माके

नातेसे ही सारे ढंग बनायें ।

८८—आत्मत्वका नाता माननेका धर्मपालनमें महत्त्व—धर्म करना है किसको ? इस निज आत्माको । ज्ञान पाना है, स्वाध्याय सुनना है, जो-जो कुछ भी व्यवहार धर्मके काम हैं उन्हें भी मैं आत्माके नातेसे कर रहा हूं, अपनेमें किसी प्रकार की उपाधि न लगायें । मैं गृहस्थ हूं, ऐसी पोजीशन वाला हूं, अमुक पक्षका हूं, किसी भी प्रकारकी उपाधि इसके साथ न होनी चाहिए । मैं तो आत्मा हूं, आत्माके नाते ही मुझे सब कुछ धर्मके लिए करना है । दूसरेसे कोई प्रयोजन नहीं, ऐसा निश्चय जीवनमें बना हो तो मार्ग मिलेगा । ऐसा निश्चय बनायें, ऐसा निर्णय बनानेमें कोई कष्ट न आयगा । लौकिक जीवनमें धनकी जरूरत है । गृहस्थोंको वह आपकी चेष्टासे नहीं मिल रहा यहाँ । आपके विशुद्ध परिणामोंसे जो पुण्यबंध हुआ उसके उदयमें यह सब कुछ समागम मिल रहा । हमारा कर्तव्य तो मोक्षमार्गके लिए है । धन कमानेमें करतूत नहीं बनती । भले ही ऐसा योग है कि जिसका उदय है मिलता है, बुद्धि वैसी बनती है, धन वैभव मिला हो तो बुद्धि बहुत काम देती है और न मिला हो और उसकी आशा बनी हो तो बुद्धि काम नहीं दिया करता । ऐसा यद्यपि योग तो है, मगर ये सब उदयाधीन बातें हैं । संसारकी बात उदयाधीन है । इतने

साफ शब्दोंमें समयसारमें बताया कि कर्मोदयसे जीव सुख पाता है, दुःख पाता है, दूसरेके कर्मोदयसे जीव सुख पाता है, दुःख पाता है, दूसरेके कर्मोदयको मैं नहीं कर सकता। यह अभिमान करना कि मैं सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं मिथ्या है; अनर्थक्रियाकारी हैं। कैसा निमित्तनैमित्तिक भावका दर्शन दिया है इसमें। देखिये—जब अपना प्रयोजन बन जाता है कि मेरेको अपने सहजस्वभावका दर्शन करना है, दूसरा कोई लक्ष्य नहीं है तो जो लोग देखो आचार्य संतोंने निमित्त-नैमित्तिक भावके प्रयोगमें स्वभावके दर्शनके मार्गका प्रतिपादन अधिक किया है, स्वभावका दर्शन ही तो चाहिए।

८६—स्वभावका दर्शन करनेके लिये निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका सहयोग—जहां यह देखा कि प्रकाश आया, गैस आ गया, जो पदार्थ अंधेरी अवस्थामें थे, प्रकाशमान हो गए। निमित्तनैमित्तिक भाव स्पष्ट है और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मैं उस प्रकाशने अपना निज स्वरूप छोड़कर, निज क्षेत्र छोड़कर, इन पदार्थोंके प्रकाश करनेके लिए घुसा नहीं, कहीं गया नहीं, दीपक दीपकमें है और उसका सन्निधान पाकर ये पदार्थ स्वयं ही अपनी अंधकार परिणतिको छोड़कर प्रकाशरूपमें आ गए। निमित्तनैमित्तिक योग और वस्तुस्वा-तंत्र्य—इन दोनोंको एक साथ सही तक लेने वाला ज्ञानी बलिष्ट ज्ञानी है। निमित्तनैमित्तिक भाव मिट न जाय, इस

कर लेना ज्ञानकी कमजोरी है।
डरसे वस्तु-स्वातंत्र्यका खण्डन कर लेना ज्ञानकी कमजोरी है।
वस्तुस्वातंत्र्य मिट न जाय, इस कारण निमित्तनैमित्तिक भाव
का खण्डन कर लेना ज्ञानकी कमजोरी है। कितनी प्रेरणा
दी है ? कर्मोदय आया तो क्रोध, मान, माया, लोभ परिणमन
कर्ममें हुए। समयसारमें जो दो-दो प्रकारके मिथ्यात्व, अवि-
रति, कषाय बताये गए हैं उसका प्रयोजन क्या है ? उस
कथनका लाभ उठावो। कर्म उदयमें आये, क्रोध प्रकृति उदय
में आयी, यों ही आरोप नहीं बन गया, किन्तु जब क्रोध
प्रकृति बँधी थी करोड़ों वर्ष पहले उस ही कालमें प्रकृति, प्रदेश,
स्थिति, अनुभाग चार बंध उसमें बँध गए थे। वह भी चीज
है, आत्मा भी वस्तु है। तो जब उदय आया तो क्रोध झलका,
भयंकर विकृति क्रोधमें हुई, प्रकृतिमें हुई, कर्ममें हुई, पर कर्म
अचेतन है, उसका अनुभव क्या करें, और हम भी क्रोध पर-
द्रव्य है सो क्या अनुभव कर सकें कि क्रोधके क्या परिणमन
जगता ? अब उस विपाकमें आये हुए कर्मका प्रतिफलन हुआ
उपयोगमें, जो अनिवारित है, हो गया ऐसा। आगपर कागज
पड़ जाय तो जलता ही है। क्रोध विपाक उदयमें आये तो
प्रतिफलन होता ही है, ये दो बातें रहती हैं अव्यक्त। अव्यक्त
विकार अनिवारित है। अब जब अपना उपयोग इन बाहरी
नोकर्मोंमें जुड़ा है तो व्यक्त क्रोध होता है। हमारा वश इतना

चलेगा कि हम इन बाहरी साधनोंमें उपयोग न जोड़ें, व्यक्त विकार न होगा। व्यक्त विकार न होगा तो कर्म भी क्षीण हो जायेंगे।

६०—विभावोंकी हेयता जानकर अन्तःस्वभावमें रुचि करनेकी मंगलरूपता—आत्महितके अर्थ स्वभावका दर्शन करना। ये विभाव परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, ऐसी बात समझमें आये बिना उनसे दिल हट नहीं सकता। जिसको मानें कि मेरा है, मेरेमें से उठे हैं, यद्यपि है परिणति मेरी, मगर उसको मैं अपना प्रश्रय ज्यादा दूं और उसकी पर-भावना हमारी समझमें नहीं आ रही तो उससे उपेक्षा करना कैसे सहज हो जायगा? इनसे मेरा सम्बंध नहीं, ये परभाव हैं, ये कर्मके परिणमन हैं। इनका प्रतिफलन ही तो हुआ, वह प्रतिफलन भी मेरी गाँठकी चीज नहीं। ऐसे परभाव जानें तो उनसे उपेक्षा हो। परभावोंसे उपेक्षा है तो स्वभावमें रुचि जगे, और जहाँ निज सहजस्वभावको 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव बने वहाँ सम्यक्त्वका लाभ है, यह भेद रहस्य न जाना और जो पर्याय पाया, जो समागम पाया उसमें ही रमकर रह गए। उसका फल यह है कि हम अब तक संसारमें रुलते चले आ रहे। अब अपनेपर दया करना है तो बहुत विविक्त बनकर केवल सहजस्वरूपको ही अपनी दृष्टिमें लेकर 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव बनाना है, इसके लिए हमारा नरभव है, मनुष्यजीवन

है। बाहरी पदार्थोंकी चिन्ता न रखें। घरमें जितने जीव हैं सब अपने-अपने कर्म साथ लिए हुए हैं, उसके उदयानुसार उनकी बात चल रही है। हम भी घरमें रहते हैं ऐसा गृहस्थ जन सोचें तो कर्तव्य है कि थोड़ा अनुराग दिखाते हुए तो रहें सो करना पड़ रहा, मगर मेरा जीवन तो निज सहजस्वभाव के दर्शनके लिए है, क्योंकि अन्य काम मेरेको क्या मदद देंगे ?

९१—स्वभावाराधनाके बिना जीवन बेकार—एकका भाई गुजर गया तो लोग आये और पूछने लगे—भाई मरते समय भाव अच्छे रहे ना ? तुम्हारा भाई क्या कर गया मरते समय ? हर एक कोई पूछता ही है। तो वह कहता है—क्या बतायें यार क्या कारोनुमाया कर गए। बी. ए. किया, नौकर हुए, पेन्शन मिली और मर गए ॥ व्यापारी लोग अपने व्यापारके ढंगकी बात सोच लें। क्या कारोनुमाया कर गए ? दूकान किया, कुछ सीखा, कुछ टोटा किया, कुछ नफा किया, कुछ लड़ाई-झगड़ा किया, न्यारे हुए, दंद-फंद किया, यों जीवन गुजरा और मर गए। क्या किया इस जीवने ? अन्तस्तत्त्वकी उपासनाके बिना जीवन व्यर्थ है, क्योंकि ऐसे जीवन तो अनंत पाये। उन अनन्त जीवनमें ये सब काम किए, मगर एक जीवने विकल्पोंमें रमनेका काम न करें तो कुछ टोटा पड़ जायगा क्या ? अनन्तमें से एक ही जीवन आत्मोद्धारके लिए बचा लिया जाय तो क्या टोटा पड़ता ? अनन्त जीवन तो

जाये। एक निर्णय होना चाहिए। मुझे जीवनका प्रयोजन अन्य कुछ नहीं। कौन पुत्र, कौन पिता, कौन भाई? घरमें रहते हैं तो प्रेमसे तो रहना, अनुराग तो दिखाना, पर मोह न करना, अनुराग बिना गृहस्थी न निभेगी। क्या गृहस्थीमें ऐसा बोलते रहें कि तू परद्रव्य है, तू नरककी खान है, तुझसे मेरा कुछ मतलब नहीं, ऐसी बात बोलकर घरमें रहा जायगा क्या? घरमें रहनेकी जो विधि है सो करें, पर अन्तः अज्ञान न होना चाहिए। मैं केवल अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें हूं, बाहरकी बात तो दूर रही, वह तो स्पष्ट है। भीतरमें भेद-विज्ञान रखो। यहाँ जीव और अजीव, जीव और कर्म—इन दोनोंका एक संघर्ष चल रहा है। इस संघर्षमें एक दूसरेका कुछ नहीं रहा, पर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि दोनोंका ही बिगाड़ चल रहा। वहाँ भेदविज्ञान करना, कर्म कर्ममें कर पाता है, मुझमें कुछ नहीं करता। मैं मुझमें करता हूं, कर्ममें कुछ नहीं करता। पर ऐसा योग है कि जीव राग-द्वेष करे तो कार्माणवर्गणायें कर्मस्वरूप बनें। कर्मका विपाक हो तो आत्मामें रागद्वेषरूप परिणति बने। ऐसा होते-होते भी जब अवसर आता है, कर्मविपाकका विभाग कम होता है तो यह जीव अपना ज्ञानबल बढ़ाता है और सम्यक् विवेक पाता है। उसके बाद फिर इसके बधकी बात चलने लगती है। कैसा ही कष्ट आ रहा हो, कैसा ही कुछ नुक्सान चल रहा हो

कैसा ही कोई घरमें गाली दे रहा हो, जहाँ दृष्टि अपनेमें की, यह तो मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र अमूर्त अंतस्तत्त्व हूं। कोई संकट नहीं, कोई विपदा नहीं, कोई आपत्ति नहीं, कोई उपसर्ग नहीं। मैं अपनी स्वभावदृष्टिसे हटकर विकल्पमें बसता हूं तो उपसर्ग है, उपद्रव है, ऐसा करता तो आया, लेकिन अब यह काम नहीं करना, ऊब गया हूं मैं। अब विकारमें आस्था नहीं है मुझे कि इस विकारसे मुझे लाभ मिलेगा। ये सब परभाव हैं, विभाव हैं, औपाधिक हैं, कर्मके प्रतिफलन हैं, उनमें मैं क्यों बहूं?

६२—**सहज ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वकी उपासना**—मैं तो सहज ज्ञानघन हूं। ज्ञानघन याने ज्ञान ही ज्ञान निरन्तर ठोस जहाँ पाया जा रहा हो, वह मैं ज्ञानघन हूं। जैसे पानीसे भरे हुए कलशमें भीतर कोई जगह ऐसी नहीं है जहाँ पानी न हो। ऐसे कलशको देखकर आत्माके ज्ञानघनकी सुध लेनी चाहिए, और इसीलिए पानीसे भरे हुए कलशको शकुन बताया गया है। जिस-जिस बातको देखकर आत्मस्वभावकी सुध आये वह तो है शकुन और जिस-जिस बातको देखकर आत्माकी सुध भूल जाय, विषयोंमें हो रमण, वह है अपशकुन। आचार्यके शब्दोंमें जिस-जिस बातको शकुन कहा हो वहाँ विवेकपूर्वक विचार लेना, आत्माकी सुध वहाँ होती है इसलिए शकुन कहा है। लोकमें भी मुर्दा दिख गया तो वह शकुन माना जाता।

अरे वह तो बेचारा मर गया और उसे देखकर शकुन माना जा रहा। क्या रहस्य है इसमें ? मुर्दाको देखते ही यह सुध आती है कि सब अनित्य है। आत्माका उद्धार करना चाहिए। कुछ तो भाव आता ही है। कैसे ही कठोर हृदयका कोई हो, मुर्दाको देखकर यह भाव जगता है, इसलिए मुर्दाका देखना शकुन है। जलसे भरे हुए कलशको देखकर ज्ञानघन आत्माकी सुध होती है, इसलिए जलपूरित कलश दिखना शकुन है। अलंकार सहित कन्याका दिखना शकुन है। बड़े अच्छे प्रसंगों में कोई मुहूर्त कराता है लोकव्यवहारमें कन्याके साथ, वह क्यों शकुन है ? उस कन्याको देखकर अविकारस्वभावी अंत-स्तत्त्वकी सुध होती है। वहाँ कुछ विकार तो नहीं। अलंकार और शृंगारको देखकर आतमाकी सत्य समृद्धिकी सुध होती है, ज्ञानदर्शन उपयोगसे परिपूर्ण अविकार आत्मतत्त्व। जो-जो भी शकुनकी बात है वह तब ही है शकुन जब उनका ख्याल कर आत्माकी सुध आये। यह मैं आत्मा सहज ज्ञानघन हूं। ऐ विकल्पों, ऐ परकृत परिणामों, ऐ औपाधिक भाव ! तुम्हारा बहुत आदर किया, अनंत काल तक आदर किया, अब तुम्हारा रहस्य जाना। तुमसे मेरा सम्बंध नहीं, तुम्हारे लगावसे मैं बरबाद हो रहा हूं। अब तुममें मेरी आस्था नहीं रही। सीधे-सादे लौट जावो और हे सहज ज्ञानघन ! तुम मेरे उपयोगमें बसो।

६३—सहज ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वके उपयोगमें निवास बनाये रहनेकी भावना—कुमित्र बहुत-बहुत प्रिय वचन बोलते हैं और उस खोटी दोस्तीके संसर्गसे मौज मानता है दूसरा और सच्चा हितैषी मित्र, माता-पिता, गुरुजन, कोई प्रिय वचन नहीं बोलते, मगर हृदयमें हितकी ही भावना रहती हैं। सो यह नाबालिग अज्ञानी कुमित्रसे तो बहुत प्रीति रखता है, तफरी कर गया, यात्रा कर गया, कंधेसे कंधा मिलाकर चला, सिनेमा देख रहा, फीस्ट (दावत) कर रहा, बड़ा मौज मानता और सच्चे हितैषी गुरुजन, माता-पिता, इनमें बड़ी उपेक्षा रहती, नाराजी भी रखते, मगर पीछे जब सुध आती है तो समझ लेता है कि ये सब खोटे दोस्त थे, स्वार्थके साथी थे। इन्होंने मेरी बरबादीका ही काम किया। उनसे हटनेमें क्या देर लगती है ? और जिनको निरखकर यह खेद मान रहा था उनके पास, गुरुजनोंके पास, सच्चे मित्रके पास बड़ी आस्थासे जाता है। यह ही बात विभाव और स्वभावकी है। विभाव हैं खोटे दोस्त। विभाव बड़े प्यारे लगते। विषयोंके सुख बड़े प्रिय लगते। ये राग मोह बड़ा मौज दे रहे। इनमें रम रहे, और ज्ञान और वैराग्य इनसे तो उपेक्षा है, कष्ट है, आस्था भी नहीं है, मुखसे भी बोल जाय, मगर भीतर आस्था नहीं है। ज्ञान और वैराग्य मेरा कल्याणकारी है, ऐसा निर्णय भीतर नहीं पड़ा है, और यह विषयका सुख यह ही मेरे लिए सब कुछ

है, ऐसी रुचि पड़ी हुई है, पर जब विवेक जगता है तब ठोकरें खा-खाकर जब एक सद्बुद्धि बनती है तो इसकी समझमें आता है कि ओह यह विभाव, इससे मेरा घात होता रहा। दूर हटो परकृत परिणाम और हे सहज ज्ञानघन बसो, बसो, मेरे उपयोगमें तुम ही निरन्तर रहो, ऐसी भीतरमें परिणति बने, बुद्धि जगे, धुन बने तो यह जीवन सफल है, अन्यथा जिसको रिझानेके लिए, जिसमें अच्छा बननेके लिए यह कषायोंका नृत्य नचाया जा रहा है ये प्रभु तो नहीं हैं कोई। ये मेरे मददगार हैं क्या ? और फिर लोकके कितनेसे हिस्सेमें है यह लोक ? ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें एक बिन्दु भर जगह होगी, जहाँ परिचय बना हुआ है। इससे मेरेको क्या लाभ ? जहाँ अनन्त जीव मुझे कुछ नहीं समझ रहे वहाँ ये हजारों भी मुझको कुछ मत मानें। सारा लोक निन्दा करे तो इसका क्या बिगाड़ ? सारा लोक प्रशंसा करे तो इसको क्या लाभ ?

९४—स्वभाव परभावके विवेकमें सहज आनंदकी प्रत्यासत्ति—जब विवेक जगता है और अपने अंतस्तत्त्वके आलम्बनसे सहज आनन्दकी अनुभूति होती है तो उसके लिए यह सारा लोक परिकर विरस हो जाता है, और उसकी यह ही भावना बनती है—दूर हटो परकृत परिणाम और हे विज्ञानघन सहज ज्ञानघन बसो, बसो, मेरे उपयोगमें निरन्तर रहो, यह मेरा

स्वरूप तो मेरी पवित्रता है और यह सहज परमात्मतत्त्व जब मेरे उपयोगमें नहीं रहता है तो उसकी विडम्बना बनती है। ये कषायोंके नाच क्यों बन रहे ? यहाँ सहज परमात्मतत्त्वका निवास नहीं है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य बचपनसे लेकर बुढ़ापे तक दुःख दुःखकी ही अनुभूति सुनाता है। यह कष्ट, वह कष्ट। मैंने उसे पाला-पोषा, बड़ा किया, उसका मुझसे यों व्यवहार। जिनको लौकिक सुख है उनको ऐसे उलाहनेके अनेक दुःख लगे हैं। ये सब दुःख क्यों लग रहे कि निज सहज परमात्मतत्त्व उपयोगमें नहीं बस रहा है, तो वहाँ यह ही तो ऊधम चलेगा। आत्मोद्धार चाहिए, आत्महित चाहिए तो जीवनका ध्येय बनायें कि तन, मन, धन, वचन सब कुछ बलिदान हो जाय, प्राण भी बलिदान हो जायें और मेरेको मेरे स्वरूपका दर्शन प्राप्त हो तो मेरेको अनन्त निधि प्राप्त होगी। ये कुछ भी चीजें वास्तविक नहीं। ये सब जीर्ण तृणवत् असार हैं, मेरेको स्व-भावका दर्शन हो, सो यह अन्तरात्मा यह धुन रख रहा कि बसो-बसो हे सहज ज्ञानघन। सहज जबसे मेरी सत्ता है तब से ही यह मेरा ज्ञानस्वरूप है। ऐसे हे सहज ज्ञानघन मेरे उपयोगमें निरन्तर बसो। इसके लिए ही मेरा जीवन है। यही मेरेको करना है। इसके लिए ही सत्संग स्वाध्याय आदि सब उपाय बनाते हैं और इसके लिए ही सर्वपरभावोंका मुझे बलिदान करना है। यों सहज परमात्मतत्त्वके दर्शनका लाभ

होगा।

सहज शान्तिचारी।

६५—सहज ज्ञानघनकी दृष्टि बिना इन्द्रजालका फंसाव— अपने उपयोगमें जिसको निरन्तर बसानेसे पवित्रता बढ़ती है, भार हटता है, आकुलता दूर होती है वह सहज स्वभाव ज्ञानघन है अर्थात् ज्ञानघन ही यह मेरा स्वरूप है। जिस किसी पदार्थको हम देखते हैं, जानते हैं तो उसमें कुछ बात समझमें आती है ना। जैसे भौतिक खम्भा देखे जाते हैं तो गोल हैं, ठोस हैं, रूप है, सब कुछ जाननेमें आता है, ऐसे ही जब हम आत्माको जानने चले तो क्या जाननेमें आता है जिससे आत्मा की पहिचान होती है? वह है ज्ञानस्वरूप, ज्ञान, जानन प्रतिभास। इस ही ज्ञानस्वरूपसे यह लबालब भरा है और इसी कारण यह ज्ञानकी वृत्तियोंके सिवाय और कुछ करता नहीं। अनादिकालसे यह जीव ज्ञानका ही काम करता चला आया है। उल्टा किया तो संसारमें रुलता, सीधा किया तो संसारसे छूटेगा, पर ज्ञानके सिवाय और कुछ काम न कर सकता, न करता हूं और न कर सकूंगा।

६६—द्रव्यकर्म व भावकर्मके जालमें ज्ञानकी निकृष्टरूपता— अनादिसे लेकर जो भ्रमण हुआ है उसमें किस तरह से ज्ञानका काम चला? वह इस तरह चला कि अनादिसे ही तो जीवमें अशुद्धता है, अनादिसे ही जीवमें शुद्धता है। जिसे

कहते हैं भावकर्म और द्रव्यकर्म। द्रव्यकर्म न थे तो जीवके साथ कैसे लग गए और भावकर्म न था तो जीवमें अशुद्धता कैसे आयी? द्रव्यकर्मका निमित्त है भावकर्म, भावकर्मका निमित्त है पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म। यद्यपि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, फिर भी विकार जहाँ भी होता है वहाँ पर-उपाधि सम्बंध बिना हो नहीं सकता। पर-उपाधि सम्बंध होनेपर भी यह उपादानकी कला है कि वह कैसे अनुकूल निमित्तको पाकर किस प्रकार विकाररूप परिणम जाता है? निमित्त तो उपस्थित मात्र है। वह अपने में से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ निकालकर उपादानमें डालता नहीं, पर उपादान अशुद्ध है तो उसमें ऐसी कला है कि वह अनुकूल साधनका सन्निधान पाकर विकाररूप परिणम जाता है। यहां न तो यह सोचना कि जब जीव रागरूप परिणमता है तो जो सामने हाजिर हो उस परनिमित्तका आरोप होता है। यह बात युक्त नहीं है। इसमें तो यह भी कहा जा सकता तो फिर निमित्तको हाजिर होनेकी जरूरत ही क्या? यह तो अपनी पात्रतासे, योग्यतासे अपना रागरूप परिणमता है। तो ये दो बातें खास समझनेकी हैं कि निमित्त है उपस्थित मात्र। निमित्त अपनेमें से कुछ धरता नहीं है उपादानमें और न उपादानकी परिणति करता है। फिर भी उपादान निमित्तका सन्निधान पाकर ही अपनेमें अपनी परिणतिसे विकार परिणमन करता है।

६७—आश्रयभूत विषयकी आरोपितकारणरूपता— अब लोगोंको यह शक कैसे हो गया कि जब काम होता है तब निमित्तपर आरोप होता है, वह शक यों हुआ कि जो हमारे व्यक्त विकार होते हैं उन व्यक्त विकारोंके होनेमें दो साधन बाहरी हुआ करते हैं—एक निमित्त रूप और एक आश्रयभूत। जिसका दूसरा नाम है अंतरंग निमित्त और बहिरंग निमित्त। जो हमारे विकार प्रकट होते हैं कषाय रागद्वेष क्रोधादिक उसमें दो साधन बाहरी हुआ करते हैं। अंतरंग निमित्त है कर्मका उदय, बहिरंग निमित्त है इन्द्रिय और मनके विषयभूत पदार्थ। किसी भी पुरुषको क्रोध आता है तो सब जानते हैं कि किसी बातपर क्रोध आया, किसी मनुष्यपर क्रोध आया, किसी घटनापर क्रोध आया। क्रोधका कोई आश्रय होता है ना? अगर क्रोधका आश्रय नहीं है तो क्रोधकी मुद्रा क्या बनेगी? क्रोध नाम किसका? नौकरपर गुस्सा आया, किसी ग्राहकपर गुस्सा आया, बच्चेपर गुस्सा हुई, उस गुस्साके समयमें कोई बाह्य वस्तु विषयमें है ना। तो ये बहिरंग साधन कहलाते हैं। और अन्तरंग साधन है क्रोध प्रकृतिका उदय। निमित्तनैमित्तिक भाव है क्रोध प्रकृतिके उदय के साथ जीवके विभावका, न कि पञ्चेन्द्रियके विषयभूत पदार्थ के साथ। ये विषयभूत पदार्थ निमित्तनहीं हैं, ये विषयभूत हैं, आश्रयभूत हैं। निमित्त तो क्रोधप्रकृतिका उदय है। लोक-

व्यवहारमें विचारमें तो हम इन बाह्य विषयोंको निमित्त कहा करते हैं—अजी उसके निमित्तसे क्रोध जग गया। तो व्यवहारमें कहते हैं ना इसे निमित्त, तो यह कहलाता है आरोपित निमित्त मायने क्रोध विकार जगा तो किसको लक्ष्यमें लेकर जगा? जिसको लक्ष्यमें लेकर जगा उसको कहते हैं आरोपित निमित्त।

६८—वास्तविक निमित्तमें आरोपित कारणमात्रताका अनवकाश— क्रोध प्रकृतिको लक्ष्यमें लेकर कोई क्रोध नहीं करता। जो वास्तविक निमित्त हैं उसमें लक्ष्य और आरोपकी बात नहीं होती। वहाँ तो जैसे अग्नि पड़ी है, पैर ऊपर आ गया तो वह तो जलेगा। वहाँ यह बात न चलेगी कि जब पैर जले तो अग्निपर निमित्तका आरोप किया जाय। अरे तुम आरोप कर सको या नहीं, वह तो जलकर रहेगा। वास्तविक निमित्तका विभावके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध हुआ करता है। अजीव अजीवमें देख लो—कहीं कोई वास्तविक निमित्त में ऐसी बात कहे कि जब रोटी जलना था तो आगपर निमित्तका आरोप किया। यह कौनसी युक्ति है? यह युक्ति है कि आगका सन्निधान पाकर रोटी जल गई। रोटी रोटीमें जली, आग अपनेसे निकलकर रोटीमें घुसकर जलाने नहीं आयी। स्वतंत्रता तो है परिणति की, मगर निमित्तनैमित्तिक योग केवल कल्पनाकी चीज नहीं है, किन्तु जगतके लोगोंकी

व्यवहार व्यवस्थाका एक साधन है, और देखो हमारा कर्तव्य है कि हम विभावोंसे हटकर स्वभावमें आयें। कल्याणका तो यह ही उपाय है, आत्महितका दूसरा उपाय नहीं है। तो अब तक दो काम पड़े हैं—विभावसे हटना और स्वभावमें लगना। अब ये दो काम हमारे किस उपायसे बन सकते हैं?

९९—**विभाव हटनेका साधनभूत मूल निर्णय**—जरा निर्णय करो, विभावोंसे हटनेका काम तब बनेगा जब इसके यह विश्वास हो जाय कि विभाव मैं नहीं हूं। ये परभाव हैं, इनमें मेरी गंध नहीं, ये मेरे स्वरूप नहीं, ये औपाधिक हैं। जब परभावपनेका ठीक विश्वास हो जायगा तो हम उससे हट सकते हैं। जैसे लोकमें हम किसी खोटे आदमीसे कब हटते हैं? जब यह ज्ञानमें आता है कि यह तो मेरा विरोधी है, बरबाद करने वाला है। यह तो मेरा घातक है। आप हट जाते हैं ना। यह तो गैर है, यह मेरा मित्र ही नहीं है, आप हट जाते हैं। ऐसे ही कषायभावसे हम कब हट सकेंगे जब कि हमारा यह निर्णय बनेगा कि ये परभाव हैं। अच्छा तो परभावोंका निर्णय बनाओ, कैसे बनाया जाता है? एक तो यों सोचना कि मेरेमें राग होता है परके लक्ष्यसे, इसलिए राग परभाव है। तो बात तो सही है कि परके लक्ष्यसे राग होता है, मगर व्यक्त राग होता है, इतना उसमें एक सही समझ लोिं.ए। प्रत्येक राग परके लक्ष्यसे नहीं होता, अव्यक्त राग

परके लक्ष्यसे नहीं होता। व्यक्त राग परके लक्ष्यसे होता है। १०वें गुणस्थानमें होने वाला राग किस परके लक्ष्यसे हुआ? श्रेणियोंमें रहने वाले योगियोंके राग किस परके लक्ष्यसे हुआ? वह राग अव्यक्त राग है, स्वानुभवमें बैठे हुये अविरत सम्यग्दृष्टि के भी जो निरन्तर राग चलता रहता है, क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंमें से कोई कषाय न हो स्वानुभवमें, यह कभी हो ही नहीं सकता। कब तक? १०वें गुणस्थान तक, ९वें गुणस्थान तक। तो जो स्वानुभवकी स्थितिमें जीवका उपयोग स्वलक्ष्यमें है, वहाँ परलक्ष्य है नहीं, मगर बराबर क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें चलती हैं। ऐसी सूक्ष्म बातको अध्या-शास्त्र नहीं बता सकते, करणानुयोग बताया करता है, क्योंकि उदय निरन्तर है और अनन्तानुबंधीको छोड़कर शेष कषायोंका उदय निरंतर है, और उनके भीतरमें अव्यक्त राग भी निरन्तर है, तो यह अव्यक्त राग परलक्ष्यसे नहीं होता, किन्तु निमित्त-नैमित्तिक भावसे हो ही गया। जब कर्मका उदय हुआ, उसका प्रतिफलन उपयोगमें हुआ बस इतना तो है अव्यक्त राग। अब यह जीव इन्द्रिय और मनके विषयभूत पदार्थोंपर लक्ष्य करे तो वह हो जाता है व्यक्त।

१००—**प्रकृतिसंगका परिणाम**—अब यहाँ यह बात समझनी है कि चूँकि वह राग वह विकार मूलमें कर्मका है, जीवका नहीं है, क्योंकि समयसारमें बताया ना कि मिथ्यात्व

भी दो प्रकारका—जीवमिथ्यात्व और अजीव मिथ्यात्व। कषाय भी दो प्रकारकी—जीवकषाय और अजीवकषाय। तो वह अजीव कषाय क्या चीज है? जो कर्मप्रकृति बँध गई थी उसमें क्रोधप्रकृति और क्रोध अनुभाग उसी समय बँध गया था, अब उस प्रकृतिका नाम क्रोध है। उसमें क्रोधका परिणाम है। जब उदयमें आया तो क्रोध क्रोधप्रकृतिमें आया, जीवमें नहीं आया, मगर वह क्रोध विकार जो क्रोधप्रकृतिमें आया, जिसका अनुभव जड़ होनेके कारण कर्म नहीं कर सकता और भिन्न होनेके कारण जीव नहीं कर सकता। ऐसा उस क्रोधका विकार इस उपयोगमें प्रतिफलित हुआ, बस यह छाया आयी, यह तो अव्यक्त बात हुई और निमित्तनैमित्तिकके नातेसे हुई। अब जब हमारे उपयोगका, ज्ञानका तिरस्कार हो गया उस समय अधीर होकर यह जीव बाह्य विषयोंमें लगता है। इन विषयभूत पदार्थोंमें लक्ष्य देता है और इसका व्यक्त रूप बन जाता है। तो चूंकि यह प्रतिफलन, यह विकार जो उपयोगमें हुआ है यह परका है, पुद्गल कर्म निष्पन्न है इसलिए यह मेरा भाव नहीं, परभाव है। जहाँ यह रहस्य जाना वहाँ परसे उपेक्षा हो जाती है और उसी समय इस। स्वभावको भी पहिचान लिया कि चूंकि ये परभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा कौन बोल सकता है? जिसने अपने सहजस्वरूपका भी दर्शन हुआ हो। वही तो परभावका निषेध कर सकता कि ये मेरे नहीं,

उसने स्वभावका भी परिचय पाया।

१०१—सहज ज्ञानघन सहज शान्तिचारी सहज परमात्मतत्त्वकी उपासना—आचार्य संत बड़े करुणावन्त, जिनके वचनोंमें, शब्द-शब्दमें आत्माके हितकी बात झलक रही है, वे परभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। मेरा स्वरूप तो सहज चैतन्यभाव है। पारिणामिक भाव, निरपेक्ष भाव, उपाधि न हो, कोई प्रसंग न हो और अपने आप जो आत्माका अस्तित्व हो वह है मेरा स्वभाव। उस स्वभावको निरखकर ज्ञानी संत जयवाद कर रहा और अभिलाषा, आकांक्षा कर रहा कि हे सहज ज्ञानघन! तुम मेरे उपयोगमें बसो, बसो, क्योंकि यह सहज ज्ञानघन आत्मस्वभाव सहज शान्तिचारी है, इसका स्वरूप ही सहज शान्त है, मायने निरपेक्षतया जो अपने आपमें अस्तित्व है वह क्या आकुलता वाला है? किसी भी पदार्थका स्वरूप उस पदार्थके बिगाड़के लिए नहीं होता। जीव ही क्या, पुद्गलमें, धर्ममें, अधर्ममें, आकाश भी ऐसा लगा लो—किसी भी पदार्थका स्वरूप उसके बिगाड़के लिए नहीं होता। यह एक अटल नियम है। किसी भी पदार्थमें बिगाड़ हो गया तो वह परसंग पाकर ही होगा, परसंग बिना नहीं हो सकता। जिसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—तस्मिन्निमित्तं परसंग एवं, वस्तुस्वभावो वोयमुदेतितावत, यह भी वस्तुका स्वभाव है कि वह विकार करे तो उसमें परसंग ही निमित्त होता है, निज निमित्त

नहीं होता है । यदि जीवके विकारमें स्वयं ही जीव निमित्त हो तो निमित्त तो सदा होते ही रहना चाहिए । जैसे कि भगवानके केवलज्ञान निरन्तर होता ही रहता है, ऐसे ही जीव को भी रागभाव निरन्तर होते ही रहना चाहिए । क्योंकि जीव उपादान है रागका और जीव ही निमित्त है रागका, तो राग क्यों न हो ? निरन्तर हो, किन्तु ऐसा नहीं है । जीवका स्वभाव सहज सिद्ध रूप है और यह जीव अपने सहज शान्त स्वभावमें ही स्वभावसे रहा करता है । ऐसा सहज ज्ञानस्वभाव ज्ञानघन मेरे उपयोगमें बसो ।

टलें टलें सब पातक परबल बलधारी ।

१०२–स्वभाववृत्ति व विभावनिवृत्तिके अर्थ धर्मपालन— जिस भव्य जीवने पंचलब्धियाँ पाकर, सम्यक्त्वका लाभ लेकर अन्तस्तत्त्वका बार-बार अनुभव किया है, ऐसे अन्तस्तत्त्वके रुचिया ज्ञानी संतको बस दो ही प्रकारकी वृत्ति होती है, जिसमें एक है निवृत्ति और दूसरी है प्रवृत्ति । विभाव भावसे निवृत्ति और स्वभाव भावसे प्रवृत्ति । इस ज्ञानीने सारा रहस्य प्राप्त किया । 'मैं क्या हूं और मैं क्या नहीं हूं, बाहरकी बातोंमें दिमाग न लगाना, वे स्पष्ट पर हैं, केवल एक आत्मक्षेत्रमें ही निरखना है । मैं क्या हूं और क्या नहीं हूं । मैं क्या हूं ? एक सहज चैतन्य स्वभाव और मैं क्या नहीं हूं ? बस इस चैतन्य-स्वभावी अविकार आत्माके उपयोगमें जो-जो कर्मविपाककी

छाया चलती है वह कुछ भी नहीं हूं । कर्म प्रकृतियाँ चार प्रकारकी होती हैं—जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी । ये दोनों स्वतंत्र-स्वतंत्र चीजें हैं । कर्म भी स्वतंत्र और जीव भी स्वतंत्र । पर निमित्तनैमित्तिक योग दोनोंका परस्पर है । जैसे जीवमें जीवकी रचना चलती हैं, ऐसे ही कर्म में कर्मकी रचना चलती है । जीवके भावके लिए कर्म निमित्त हैं तो कर्मकी रचनाके लिए जीवभाव निमित्त है । हाँ तो कर्ममें चार प्रकारकी प्रकृति हुई । जीवविपाकी प्रकृतिका परिणाम है कि उसका फल जीवमें होना । यद्यपि कर्मका फल कर्मसे ही अनन्य है, फिर भी उसकी झांकी होकर जो ज्ञान तिरस्कारके कारण जीव बाह्यमें उपयोग लगाता है और अपने को रागी द्वेषी अनुभवता है वह जीव विपाकीका नाम है । पुद्गलविपाकी प्रकृति, पुद्गलविपाकी प्रकृतिका इस प्रकार विपाक होता है कि वह कुछ किसी रूपमें शरीर परमाणुवोंके साथ मिलकर शरीर निष्पत्ति प्रारंभ कर फिर उड़ जाता है । भिन्न-भिन्न ढंग है इन कर्मोंके उदयका । जैसे घड़ा बनता है मिट्टीसे, मगर केवल मिट्टीसे घड़ा कैसे बनेगा ? पानी डालेंगे । तो प्रारम्भमें जैसे घड़ा बनता है और उसमें पानी मदद दे रहा और रचनामें जैसे मिट्टीसे घड़ा निष्पन्न हो रहा, उस पानीसे भी निष्पन्न हो रहा, लेकिन पीछे पानी नहीं रहता, उड़ जाता है, केवल मिट्टी रहती है । तो जैसे घड़ेके बननेमें पानीने सह-

योग दिया, ऐसे ही शरीरकी रचनामें पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृति का सहयोग है। कर्मप्रकृतिके उदयकी बड़ी भिन्न दशा है और यह बात जैनसिद्धान्तका कोई एक अंशमात्र ही रटा जाय तो उससे स्पष्टता नहीं होती। हमने सब तरहका ज्ञान स्वभावके लिए मदद दिया करता है। किसीको हम फाल्तू न समझें। जैसे ठठेरेका कबूतर, मानो बर्तन बनाने वालेके घरमें बैठा हुआ कबूतर रोज-रोज ठन-ठनकी आवाज सुनता है तो वह डरता नहीं, खूंटीपर बैठा रहता है, ऐसे ही यह आदत न होनी चाहिए कि हम कोई एक बात रटे ही जा रहे हैं रोज-रोज तो उसका हमपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हम जैसे भोजनमें तो गम नहीं खाते—चटनी भी चाहिए, पापड़ भी चाहिए, नमकीन भी चाहिए, मिठाई भी चाहिए। तत्त्वज्ञानकी दशामें चारों अनुयोगोंका बड़ा सहयोग है। जब पुराण पुरुषोंका चरित्र पढ़ते हैं तो कैसी उमंग होती है? एक भीतर प्रयोग बनने लगता है, विरक्ति जग जाती है। अरे जब छोटे-छोटे उपन्यास पढ़कर भी लोग कभी-कभी आंसू भी बहा देते, कभी मुस्करा देते, कभी चिन्ताजनक हो गए, कभी आश्चर्यभरी मुद्रा बन गई, तो जब एक उपन्यास पढ़कर भावोंमें ऐसा परिवर्तन कर लेते हैं तो हमारे पूर्वजोंके ये चरित्र, इनका हम कुछ वाचन करें, पढ़ें तो हममें ताजगी आयगी। व्यर्थकी चीज नहीं है।

१०३—कर्मप्रकृतियोंकी निमित्तभूतताका विश्लेषण— करणानुयोगके ग्रन्थोंका अध्ययन करें। जब लोक, काल और कर्म जीवकी रचनाका परिचय होता है तो बहुत स्पष्ट मार्ग उसे जंचता है। क्षेत्रविपाकी प्रकृतिका उदय इस प्रकार होता है कि जीव एक भव छोड़कर दूसरे भवमें जब जाता है तो उदय तो होगा अगली ही गति सम्बंधी और आकार होगा पूर्वभव सम्बंधी। आपने कभी परखा होगा कि किसी आफीसर का जब तबादला होता है और नया अफसर चार्ज लेता है तो जिस दिन नया अफसर चार्ज लेता है और पुराना अफसर चार्ज दे रहा तो जरा वहांका वातावरण तो देखो, महत्ता किस आफीसरकी चल रही? किसी दृष्टिमें नए अफसर की, किसी दृष्टिमें पुराने अफसरकी। अधिकार तो पुराने अफसरका है। कोई गड़बड़ी करे तो उसे हटाये, भगाये। पुराने अफसरका अधिकार ज्यादा है, किन्तु चार्ज ले रहा नया अफसर, लोगों की निगाह उसपर है तो इस भावनासे नए की महत्ता ज्यादा है। तो जब चार्ज है उस समय नये और पुराने दोनोंकी वहाँ एक भावना चलती है। उसको छोड़कर नया भव पा रहा, वह चार्ज है उस नई गति का और पुराना मिश्रण देखिये—क्षेत्रविपाकी प्रकृतिके उदयमें, भवविपाकी प्रकृतियोंका काम है शरीरमें रोके रखना, अर्थात् जब तक आयुका उदय है तब तक जीव शरीरमें रहता है, तो

इन चार प्रकारके उदयमें खास बात यह समझें कि बहिरंग साधन दो प्रकारके जीवविपाकी प्रकृतिके प्रसंगमें होते हैं। तीनके उदयमें बाह्य साधन दो प्रकारके नहीं। वहां उपादान और निमित्त दो की ही बात है, मगर जीवविपाकी प्रकृतिका उदय है वहां व्यक्त विकार होता है। तो कर्मप्रकृतिका उदय तो निमित्त है और पञ्चेन्द्रियके विषयभूत उसका आश्रयभूत है। यह विशेषता आपको कर्मोंमें भी केवल एक जीवविपाकी प्रकृतिके प्रसंगमें मिलती है।

१०४—**अनुपयोग पदार्थोंमें आश्रयभूत कारणप्रसंगकी अनावश्यकता**—संसारमें, लोकमें जो पुद्गल पुद्गलका काम चल रहा परस्पर, उनमें केवल उपादान निमित्त है। आश्रयभूत साधन वहां नहीं है। आग जल रही है, ऊपर पानी चढ़ा है, उसका निमित्त पाकर पानी गर्म हो गया। आश्रयका काम तो वहां चलता है जहां उपयोग लक्ष्य लेता है। उपयोग पर-पदार्थको लक्ष्यमें ले, ऐसी स्थिति जीवविपाकी कर्मप्रकृतिके उदयमें चलती है। तो बात क्या चल रही, ज्ञानी संतको यह बात स्पष्ट चल रही कि जैसे दर्पणमें सामने खड़ी हुई चीजकी छाया आयी तो वह छाया यद्यपि दर्पणके आधारमें तो है, लेकिन उसे स्पष्ट बोध है कि यह छाया दर्पणकी निजी चीज नहीं है, पर सन्निधान पाकर छाया हुई है, और स्पष्ट दिखता है। जैसे यहां जल्दी-जल्दी हाथ हिल रहा वैसे ही दर्पणमें उस

तरहकी छाया चल रही। अब वहां कोई यों कहे कि जब दर्पणमें ऐसी डगमग छाया होनेको हुई तो हाथ हाजिर हो गया तो यह कोई तुक नहीं मिलती। निमित्तनैमित्तिक योग सही-सही समझनेपर वह वस्तुस्वातंत्र्य बराबर समझमें रहता है। भले ही हाथ बहुत कम-कम करके चल रहा और उसका सन्निधान पाकर दर्पणमें उस तरहका प्रतिबिम्ब हो रहा, लेकिन हाथ दूर है, दर्पण दूर है। हाथने अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निकालकर दर्पणको दिया हो, ऐसी बात नहीं, पर ऐसा ही योग है कि निमित्तके अनुरूप उपादान अपनी परिणतिसे अपना विकार करता रहता है। वस्तुस्वातंत्र्य भी है, निमित्त-नैमित्तिक भाव भी है। अब रही कामकी बात। काम है स्वभावका दर्शन। दर्पणमें क्या स्वभाव है? एक स्वच्छता। उस स्वच्छताका दर्शन इस रूपसे भी तो कर रहे हैं और अच्छी तरहसे कि यह छाया दर्पणकी नहीं है, यह छाया नैमित्तिक है, इसमें अलग है। दर्पण स्वच्छतामात्र है। निमित्त-नैमित्तिकके परिचयसे स्वच्छताका दर्शन किया जा रहा। जैन-सिद्धान्तमें इसका वर्णन अधिक दिया गया है कि निमित्तनैमित्तिकका परिचय करके स्वभावका दर्शन कराया गया है। निमित्त कर्ता नहीं होता। उपादानकी कोई परिणति नहीं करता। निमित्त अपनेमें ही अपनी समाप्ति करता है, लेकिन योग ऐसा है कि जो आप हर जगह निरखेंगे, परखेंगे और

तभी परभाव समझें। ये परभाव हैं, विकारभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। कुन्दकुन्दाचार्यने जीवजीवाधिकारमें बड़े प्रबल शब्दोंमें यह सब कहा है कि वर्ण रागद्वेष अध्यात्मसाधना संयमलब्धि साधना जीवस्थान, गुणस्थान सब पुद्गल कर्म निष्पन्न हैं—एए सव्वे भावा पुग्गलकम्म णिप्पण्णा। उससे हमको स्वभावका अछूता दर्शन होता है। ये सब अलग हैं। ये मैं नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व हूं।

१०५—पातकोंकी चैतन्यकुलविरुद्धता—ज्ञानीकी भावना रही है—टलें टलें सब पातक। पातक किसे कहते हैं? जो गिरा देवे सो पातक। जो गिरे सो पतित और जो गिरावे सो पातक। मुझको गिराने वाला कौन है? मेरे कुलके विरुद्ध काम, यह मेरेको गिराता है। किसी बड़े घरके लड़केको अगर कोई व्यसन लग गया तो उसने कुलके विरुद्ध आचरण किया कि वह समाजसे भी गिर गया, धनसे भी गिर गया, दिलसे भी गिर गया, शान्ति सुखसे भी गिर गया। ऐसे ही एक सहज चैतन्य कुलमें रहने वाला यह सहज परमात्मतत्त्व जब अपने चैतन्यकुलकी बातसे गिरते हैं याने इसके कुलकी बात है चेतें, ज्ञाताद्रष्टा रहें, प्रतिभासमात्र रहें, यह उसके कुलकी बात है। बड़े-बड़े पुरुषोंने जिन्होंने शुद्धि प्राप्त की, चैतन्यकुलके अनुरूप चले, इसलिए वे सिद्ध बन गए। यहाँ अपने इस

चैतन्यकुलके विरुद्ध क्रिया बने तो वही पातक है। यदि कोई यहाँ इस लौकिक कुलकी दृष्टि रखे तो पातक है। मेरा कुल चले, मेरे बच्चे हैं, मेरा घर भरपूर है, ऐसा कोई भाव बनाये तो पातक है। जरा सोचो तो सही कि यह भाव इस आत्मा का पतन करने वाला है या नहीं। यह पर्यायबुद्धिका सहयोगी है या नहीं? दृष्टि दें हम कितना भूले हुए हैं, कितना कष्टसे दूर हैं, इसका भी परिचय मिलना, तो वह बहुत मददगार है। अपने देहको देखकर यह मैं हूं, और कोई धर्म कार्य कर रहे हैं वहांपर भी यह मैं हूं, मैं व्रती हूं, साधु हूं, त्यागी हूं, विद्वान् हूं, समझदार हूं, धर्मात्मा हूं। लोगोंको देख-देखकर अपने आपके देहको निरख-निरखकर ऐसी कषायें जगती हैं, बताओ यह यह पातक है या नहीं? पातक है। निर्विकल्प शिवनायक चैतन्यस्वरूपकी आस्थाका जो भाव है सो तो हमारी समृद्धि है और उसे छोड़कर जितने हमारे भाव हैं वे सब पातक हैं। लोग कहते हैं कि सूतक पातक लग गया, यह धर्म नहीं कर सकता, पूजा नहीं कर सकता, यह नहीं कर सकता, वह नहीं कर सकता, हां ठीक है। जिसको विकल्पोंका पातक लगा है उसको धर्म कहां रखा है? चाहे वह तो भी नहीं कर सकता। जिसके विकल्पोंकी आस्था पड़ी है वह धर्मका पात्र कहां है? कोई ऐसी बात नहीं है कि लिखा है इसलिए हो रहा, वह तो हो रहा है। जो वस्तुस्वरूप है जो बात है, जो राग है वह बात

कही जा रही है ।

१०६—ज्ञानीकी पातकोंसे पृथक् हो जानेकी भावना— अंतस्तत्त्वके ज्ञानी इस अन्तरात्माके अन्दर यही एक चिन्तन चल रहा है कि ये सारे पातक टलें, टलें, दूर हों, दूर हों, ये पातक न चाहिए। जिसको सहज आनन्दनिधिका दर्शन हुआ है, अपने अन्तरात्मामें ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर जो एक अनुपम आनन्द मिला है वह तो उस आनन्दका आकांक्षी है। उसे बाकी सारे दुःख मौज उपद्रव लग रहे। संसारके दुःख कष्ट हैं, मगर संसारके सुख महाकष्ट हैं। दुःख में तो थोड़ा धर्म होता है, दृष्टि जाती है, सुध होती है प्रभुकी, अपने आत्मस्वरूपकी। वैराग्य भी जगता है, मगर सांसारिक सुख मिले हुए हों और उनमें जिसका उपयोग चल रहा है उसे न प्रभुकी सुध, न आत्माकी सुध। वह तो न जाने कैसे-कैसे पातकमें पड़ा हुआ है, कैसे-कैसे मौजके भावोंमें लगा हुआ है ? सांसारिक सुखको महाकष्ट कहा और दुःखको भी कष्ट कह लो। देवगतिमें बड़ा सुख है, भोगभूमिके जीवोंको बड़ा सुख है। खैर आप देवगतिको तो यों कह देंगे कि उनका वैक्रियक शरीर है, वे संयमके पात्र नहीं। जैसे नारकीका शरीर वैक्रियक संयम का पात्र नहीं है, अच्छा भोगभूमिका मनुष्य तो है, वहां क्यों नहीं संयम होता ? मनुष्य तो वे भी कहलाते। अरे वहां भोगभूमि है वह, सुखकी भूमि है वह। और कैसा प्राकृतिक

ढंगसे उन्हें सुख मिला है कि पैदा होते तो लड़का लड़की एक साथ और ये पैदा हुए कि मां-बाप मरे। मां-बापने बच्चोंका मुख नहीं देखा और बच्चोंने मां-बापका मुख नहीं देखा। अब उन्हें दुःख क्यों आये ? लोग तो यहां तरसते हैं बच्चोंका मुख देख लें ! अर्थ उसका क्या है कि मैं दुःखमें गिर जाऊँ। बच्चे का मुख देखना दुःखमें गिरना है। यह भोगभूमिकी पद्धति बना रहे। मुख देखना नहीं, वह तो भोगसे मतलब है। तो जहां भोगभूमिमें इतना बड़ा सुख है, रोग होता नहीं, भूख-प्यासकी पीड़ा सहनेका अवसर आये नहीं, सदा रमते रहते हैं, उनको भले ही सम्यक्त्व है जरूर किसी किसीके, मगर यहां ऐसी भावना नहीं जगती कि संयमकी रुचि बने। फिर भी भोगभूमिके अविरत सम्यग्दृष्टि उनको कदाचित् संयमी साधुके दर्शन हो सकते हैं। कोई साधु जा रहा है, कोई साधु कहीं जा रहा है दूर देश विदेहादिक, तो वह भोगभूमिमें होकर ही तो जाता है, तो उनको बड़ी भक्ति जगेगी, मगर वे गप्पवादी जिनको संयमियोंको देखकर मनमें प्रीति भी नहीं है, बल्कि घृणा आती तो संयमकी रुचिका तो अंश भी नहीं कहा जा सकता। अब आप सोचें—अपने आपको कितना साधकर रहना है, यह ज्ञानी पुरुष जिसने कि एक साक्षात् अनुभव किया है कि मैं क्या हूं, अनात्मा क्या है ? स्पष्ट नजर आता। जैसे यह सहज चैतन्य भाव कैसे नजर आता ? उसे वचनों

द्वारा नहीं कहा जा सकता। जिसने अनुभव किया इस निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वका वह घूंट पीकर ही रह जाता है। बतानेके शब्द नहीं होते उसके पास, यह सब कर सकते हैं, सबके द्वारा किए जानेकी बात है, उसको बाहरी बातें क्या सुहायेंगी? केवल एक उद्धारकी ही दृष्टि है उसकी।

१०७—पातकोंकी परबलबलधारिता—ज्ञानीके चिन्तन में ये टलें टलें सब पातक, सारे पातक, सर्व विकल्पजाल मुझसे दूर हों अथवा इसमें कोई अधिक श्रम क्यों नहीं पड़ता, क्योंकि इन विभावोंमें कुछ दम ही नहीं है। जैसे किसी निर्बल दुष्टको बढ़ावा देते है तो वह भूलकर बड़े बढ़ावामें आकर भार बन जाता है, ऐसे ही इस निर्बल जिसमें जिसकी कोई जड़ ही नहीं, इन परभावोंको जब यह अज्ञानी जीव बढ़ावा देता है तो यह विकल्पोंमें हामी हो जाता है।

१०८—विभावोंकी अनाथता—आप देखो—रागद्वेष विभाव इनको किसने सहारा दिया? ये किसके आश्रयपर जवान हो सकते हैं? ये किसके आश्रयसे उत्पन्न हुए? जैसे कोई मनुष्य किसीका भरोसा तो रखता है कि हमारा तो यह बड़ा है। हमको क्या भय? निःशङ्क रहेंगे, ऐसे ही इन विभावोंको किसका भरोसा है, जो यह कह सकें कि हम तो यहाँ निःशंक जमे रहेंगे? जीवको यह पता न हो, जीवकी ये चीज नहीं। जीवका सहारा लेते नहीं और कर्मके ये भाव

नहीं। जो उपयोगका विकाररूप है परिणाम उसे कर्म भी रख सकता नहीं, जीव भी रख सकता नहीं, जो ऐसा लावारिस है भाव और ऐसा अशक्त है यह विभाव, तो डरनेकी आदत वाला हौवासे भी डर जाता। यद्यपि हौवा कोई चीज तो नहीं है। किसीने देखा है क्या हौवाको? उसके हाथ-पैर वगैरा होते हैं क्या? उसकी कोई शक्ल-सूरत भी होती है क्या? होती तो नहीं, पर डरने वाले तो हौवासे डरते हैं। तो ऐसे ही अज्ञानी जीवोंने इन लावारिस विभावोंका बढ़ावा दिया है, अपनाया है, इसलिए ये भूत बन रहे हैं। और जिन्होंने यह रहस्य जाना उनके लिए स्पष्ट है कि ये विभाव अब उनपर हावी नहीं हो सकते। पर परबल बलधारी हैं याने कर्मका सान्निध्य पाकर इनका अस्तित्व बनता है। न तो ये जीवके बलसे आये और वस्तुतः ये कर्मकी भी चीज नहीं, ये तो निमित्त हैं, औपाधिक भाव हैं। ये सब पातक भाव टलें टलें, मुझसे हटें और मैं एक सहज ज्ञानघनका ही अनुभव करूँ। इस प्रकार इस अविकारी चैतन्यस्वभावके जयवादके साथ उसकी रुचि और उसका प्रयोग करता हुआ ज्ञानी संत अपने आपको आनन्दमग्न कर रहा है।

॥ इति परमात्म-आरती प्रवचन समाप्त ॥

चित्संस्तवनम्

* प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् *

शिवसाधनमूलमजं शिवदम् ।
निजकार्यसुकारणरूपमिदम् ॥
भवकाननदाहविदाहहरम् ।
प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥१॥
भवसृष्टिकरं शिवसृष्टिहरम् ।
शिवसृष्टिकरं भवसृष्टिहरम् ॥
गतसर्वविधानविकल्पनयम् ।
प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥२॥
शिवसृष्ट्यकरं भवसृष्ट्यहरम् ।
भवसृष्ट्यकरं शिवसृष्ट्यहरम् ॥
गतसर्वनिषेधविकल्पनयम् ।
प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥३॥
परिणामगतं परिणामरहम् ।
परिणामभवं परिणामयुतम् ॥
उपपादविनाशविकल्परहम् ।
प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥४॥
स्वचतुष्टयमूलमभिन्नगुणम् ।
मतिदर्शनशक्तिसुशर्ममयम् ॥
अचलं शिवशङ्करदृष्टिपथम् ।
प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥५॥

आत्म-कीर्तन

हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेक॥

मैं वह हूं, जो हैं भगवान,
जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान,
वे विराग यह रागवितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान,
अमित शक्ति सुख ज्ञाननिधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान,
बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोइ न आन,
मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान,
फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम,
विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम,
आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम,
मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम,
सहजानन्द रहूं अभिराम ॥५॥